मानस-चिन्तन

डॉ. भगवान दास पटैरया

॥श्रीराम॥

मानस-चिन्तन

डॉ. भगवान दास पटैरया
फोनः 9899004263
ईमेलः bpateria@gmail.com

डी-11, सैक्टर-36
नोएडा-201303

मानस-चिन्तन

प्रकाशकः श्रीरामचरितमानस राष्ट्रीय समिति (पंजीकृत)
पंजीकृत कार्यालयः 593, ग्राम बिजवासन, नई दिल्ली-110061
स्थानीय कार्यालयः ए-447, सैक्टर-47, नोएडा-201303

लेखकः डॉ. भगवान दास पटैरया

© डॉ. भगवान दास पटैरया
डी-11, सैक्टर-36, नोएडा-201303

प्रथम संस्करणः चैत्र शुक्ल पक्ष, विक्रम संवत् 2083, मार्च 2026

मुद्रकः एक्सेलप्रिंट, सी-36, फ्लैटेड फैक्ट्री कॉम्प्लेक्स
झण्डेवालान, नई दिल्ली-110055
ईमेलः excelprinters@gmail.com

मानस-चिन्तन (Manas-Chintan) मूल्यः रु. 250/- (दो सौ पचास रुपये)

समर्पण

अर्धाङ्गिनी स्व. श्रीमती कुसुम पटैरया
(14-09-1947 से आश्विन शुक्ल 2 संवत् 2082
तदनुसार 23-09-2025)
को, उनके परम कल्याणार्थ सप्रेम समर्पण

भूमिका

सभी जीव ईश्वर के अंश हैं, अतः अविनाशी एवं सहज ही सुखराशि हैं, किन्तु माया के प्रभाव से जीवात्मा चार प्रकार के जीवों (जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज एवं स्वेदज) और चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता रहता है। ईश्वर की अहैतुकी कृपा से कभी-कभार मनुष्य शरीर प्राप्त होता है, जिसका एकमात्र उद्देश्य इस आवागमन से छूटने का उपाय करना है। इस हेतु तीन प्रमुख मार्गः-ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग तथा कर्म-मार्ग शास्त्रों द्वारा प्रतिपादित हैं। कर्मयोग तो उभयनिष्ठ है अर्थात् चाहे ज्ञान-मार्ग हो या भक्ति-मार्ग, विहित कर्म करना तो दोनों में आवश्यक है। ज्ञान-मार्ग में अनेक बाधाएँ आती हैं और कठिन भी है। साथ ही मन की चंचलता रोकने हेतु कोई अवलंब नहीं है, जबकि भक्ति-मार्ग सरल-सुगम होने के साथ 'मन' को ईश्वर का सहारा रहता है। भक्ति-मार्ग में श्रद्धा-विश्वास की प्रमुखता है। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु।। (7/90क)

'मानस' के विभिन्न प्रसंगों में वर्णित है कि श्रीरामचरितमानस के **श्रवण-गायन- कथन एवं चिंतन** से श्रीरामजी के श्रीचरणों में प्रेम उत्पन्न हो जाता है, जो जीवन का परम लक्ष्य है। इसी उद्देश्य से श्रीरामचरितमानस सत्संग समिति/श्रीरामचरितमानस राष्ट्रीय समिति की वार्षिक स्मारिकाओं में प्रकाशित मेरे सभी लेखों को **कुछ संशोधनों के साथ तथा कुछ अन्य आलेख जोड़कर 38 लेखों के संकलन स्वरूप** यह पुस्तक प्रकाशित की जा रही है।

श्रीरामचरितमानस राष्ट्रीय समिति के सौजन्य से यह प्रकाशित हो रही है। मैं अनुगृहीत हूँ समिति के **अध्यक्ष पं. दिनेश चंद्र शर्मा** एवं **उपाध्यक्ष** तथा दैनिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली के सेवानिवृत्त मुख्य उप सम्पादक **श्री जगदीश प्रसाद शर्मा 'सरल'** जिन्होंने इसकी पाण्डुलिपि को पढ़कर महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए।

मुझे विश्वास है कि पाठक इसे पढ़कर अवश्य ही लाभान्वित होंगे।

चैत्र शुक्ल नवमी संवत् 2083 — भगवान दास पटैरया
तदनुसार 26 मार्च 2026 — डी-11, सैक्टर-36, नोएडा

अनुक्रमणिका

विषय-क्रम

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
01.	आतंकवाद-समस्या का समाधान	007
02.	अवगुन आठ सदा उर रहहीं	011
03.	करम प्रधान बिस्व करि राखा	016
04.	कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी	023
05.	छविसमुद्र हरि रूप बिलोकी	028
06.	जिय कै जरनि न जाइ	033
07.	जिहि सब भाँति तुम्हार भरोसा	036
08.	ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी	042
09.	तुलसी जस भवतब्यता	048
10.	तुलसी जन्म भूमि	052
11.	तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा	057
12.	दृढ़ विश्वास की परम आवश्यकता	060
13.	नट मरकट इव सबहिं नचावत	064
14.	पूजिअ बिप्र सील गुन हीना	068
15.	परपीड़न दोष एवं जघन्य पापों से बचें	071
16.	बैर न बिग्रह आस न त्रासा	076
17.	बिनु श्रम नारि परम गति लहई	085
18.	भजिअ राम सब काम बिहाई	092
19.	भक्त का सहज स्वभाव	097

20.	भरतजी का भक्तिभाव	101
21.	भजत कृपा करिहहिं रघुराई	104
22.	मन मुसुकाहिं रामु सुनि बानी	113
23.	मंगलकारिणी रामकथा	120
24.	मानस में प्रबंध कला की एक झलक	124
25.	मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा	131
26.	राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई	135
27.	राम से वैरभाव से रावण को सद्गति	140
28.	रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा	146
29.	राम सदा सेवक रुचि राखी	152
30.	रामकथा श्रवण-गायन-कथन-चिंतन से परमगति	157
31.	रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही	165
32.	सच्चा सुख प्राप्ति के सुगम उपाय	168
33.	सब तें सेवक धरमु कठोरा	171
34.	संतान्वेषण-परिणाम	179
35.	हरि अनंत हरि कथा अनंता	183
36.	श्रीहनुमानजी द्वारा सीतान्वेषण	186
37.	हरिजन इव परिहरि सब आसा	191
38.	हनुमान चालीसा के सिद्ध मंत्र	194

आतंकवाद-समस्या का समाधान

हमारा देश ही नहीं, आज पूरा विश्व आतंकवाद की समस्या से जूझ रहा है। सभी राष्ट्र और उनके अंदर की राजनैतिक पार्टियाँ यदि आपसी मतभेद भुलाकर, निजी स्वार्थ से ऊपर उठकर इसका समाधान खोजें और उसे कार्यरूप में परिणित करें तो ऐसा कोई कारण नहीं कि हम इस जटिल समस्या से उबर न सकें। ठीक ऐसी ही स्थिति रामायण काल में थी। गुरु वसिष्ठ में ब्रह्मा के नियम को बदलने तक की शक्ति थी। विश्वामित्रजी अपने तपोबल से दूसरी सृष्टि की रचना करने लगे थे। बहुत मुश्किल से माने। महाराज दशरथ इन्द्र तक की सहायता करते थे। महाराज जनक अपने तपोबल एवं ज्ञान से बहुत उच्च स्थिति में थे, पर इनमें आपसी तालमेल नहीं था। इसी कारण अयोध्या और मिथिला के बीच ताड़का, मारीच और सुबाहु का तथा दण्डाकारण्य में खर-दूषण का एवं पूरे विश्व में रावण का आतंक छाया हुआ था। इस प्रकार से दैवी शक्तियाँ बिखरी हुई थीं। उनमें आपसी तालमेल का अभाव था, तो दूसरी ओर आसुरी शक्तियाँ संगठित थीं और इनका प्रमुख संयोजक रावण था, जिसे एक प्रकार से अजेय-अमरता का वरदान प्राप्त था। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीराम ने बिखरी हुई दैवी शक्तियों को संगठित किया और उन्हीं से आशीर्वाद और शक्तियाँ प्राप्त करके आतंकवाद को समूल नष्ट किया। श्रीरामचरितमानस में इस प्रसंग का कुछ इस प्रकार से वर्णन किया गया है-

विश्वामित्रजी अपने आश्रम में विभिन्न प्रकार के अनुष्ठान, यज्ञादि पुनीत कार्य करते थे। वास्तव में ऋषि-मुनियों के इस प्रकार के शोध कार्य आध्यात्मिक प्रगति में सहायक थे। हमारे देश में प्राचीनकाल में इन्हीं आश्रमों में किए जा रहे अनुसंधानों से आध्यात्मिक प्रगति चरम सीमा पर थी। विश्वामित्रजी के आश्रम पर मारीच और सुबाहु का आतंक था। इससे दुखी होकर विश्वामित्रजी ने विचार किया कि इन दुष्टों के संहार हेतु ही अखिल ब्रह्माण्डनायक परब्रह्म ने 'श्रीराम' के रूप में महाराज दशरथ के यहाँ अवतार लिया है, अतः वे उन्हें लेने के लिए अयोध्या जाने का विचार करते हैं। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि विश्वामित्रजी

और महाराज दशरथ के गुरु वसिष्ठजी एक दूसरे के घोर शत्रु थे, किन्तु राष्ट्रहित के सामने निजी शत्रुता को ताक पर रखकर विश्वामित्रजी ने अयोध्या की ओर प्रस्थान किया।

बहुबिधि करत मनोरथ जात लागि नहिं बार।
करि मज्जन सरऊ जल गए भूप दरबार।। (1/206)

महाराज दशरथ ने विश्वामित्रजी का स्वागत किया। उनसे आशीर्वाद लिया। भोजन प्रसाद ग्रहण कर लेने के पश्चात् पूछने लगे कि उनके यहाँ आने का कोई विशेष कारण हो तो बताएँ। विश्वामित्रजी ने बताया कि राक्षसों का आतंक उनके आध्यात्मिक कृत्यों को बाधित करता है। उनके संहार हेतु आप अपने पुत्रों, राम-लक्ष्मण को दे दीजिए। राजा इस अप्रिय वाणी को सुनकर कहने लगे कि हे ब्राह्मण देवता! आपने सोच-विचार कर माँग नहीं की है। मैं सब कुछ दे सकता हूँ, पर 'राम' देते नहीं बनते।

मागहु भूमि धेनु धन कोसा। सर्बस देउँ आजु सहरोसा।।
देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं।।
सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं। राम देत नहिं बनइ गोसाईं।। (1/208/3-5)

इस प्रकार से महाराज दशरथ ने स्पष्ट रूप से मना कर दिया कि वे किसी भी हालत में राम-लक्ष्मण को नहीं देंगे। अब महत्त्वपूर्ण भूमिका आती है गुरु वसिष्ठ की जो कि विश्वामित्रजी के घोर विरोधी हैं, पर वे त्रिकालदर्शी हैं। वे जानते हैं कि लोक-कल्याण हेतु दुष्टों के संहार के लिए श्रीराम-लक्ष्मण को विश्वामित्रजी को देना आवश्यक है, अतः उन्होंने भी निजी शत्रुता को भुलाकर राष्ट्रहित में आतंकवाद को समूल नष्ट कराने की दिशा में कार्य करते हुए महाराज दशरथ को समझाया।

तब बसिष्ट बहुबिधि समुझावा। नृप संदेह नास कहँ पावा। (1/208/8)

जब विश्वामित्रजी श्रीराम-लक्ष्मण को साथ लेकर अपने आश्रम की ओर चले जा रहे थे, तब राक्षसी ताड़का ने उन पर आक्रमण कर दिया। श्रीरामजी ने उसका एक बाण से अंत कर दिया। तत्पश्चात् विश्वामित्रजी ने अपने आश्रम पहुँचकर श्रीरामजी को वे सभी दैवी शक्तियाँ समर्पित कर दीं, जो उन्होंने अभी तक अर्जित की थीं।

आयुध सर्ब समर्पि कै प्रभु निज आश्रम आनि।
कंद मूल फल भोजन दीन्ह भगति हित जानि॥ (1/209)

इससे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि जो महान विभूति आतंकवाद को समूल नष्ट करने में सहायक हो उसका हर प्रकार से साथ देना चाहिए, अपनी पूरी शक्तियाँ उसे अर्पित कर देनी चाहिए। जिस प्रकार मुनि विश्वामित्रजी और गुरु वसिष्ठ की आपस में नहीं बनती थी। उसी प्रकार महाराज दशरथ और राजा जनक के भी आपसी संबंध मधुर नहीं रहे होंगे, क्योंकि एक दूसरे के राज्य में नदियों के कारण आवागमन भी नहीं था। जिन राजाओं की आपस में मित्रता होती थी, वे उनके राज्यों के बीच पड़ने वाली नदियों पर पुलों का निर्माण करा देते थे। जब श्रीरामजी ने धनुष-यज्ञ में शिवजी के धनुष को तोड़ दिया और उनका विवाह जनकपुत्री सीताजी से होना निश्चित हो गया, तब महाराज जनक ने अयोध्या और जनकपुरी के मध्य पड़ने वाली नदियों पर पुल बनवा दिए।

आवत जानि भानुकुल केतू। सरितन्हि जनक बँधाए सेतू॥ (1/304/5)

जिस प्रकार गुरु वसिष्ठ आध्यात्मिक शक्तियों के भंडार थे, ठीक उसी प्रकार मुनि विश्वामित्रजी भी इतने शक्तिशाली थे कि उन्होंने अलग से एक सृष्टि रचना प्रारंभ कर दी थी। अब राजा दशरथ की प्रतिभा पर विचार करते हैं। वे इतने शक्तिशाली थे कि देवताओं के राजा इन्द्र तक उनकी सहायता के आकांक्षी थे। देखिए श्रीरामचरितमानस का यह प्रसंग-

ससुर चक्कवइ कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥
आगें होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसन देई॥ (2/98/3-4)

अर्थात् (सीताजी मंत्री सुमंत्र से कहती हैं) मेरे ससुर चक्रवर्ती कौशलेन्द्र का चौदह भुवनों में प्रभाव विदित है। देवराज इन्द्र जिनका आगे बढ़कर स्वागत करते हैं और अपना आधा सिंहासन उन्हें देते हैं। इतने प्रतापी होने पर भी उनके पड़ोसी राज्य जनकपुरी और उनके राज्य के बीच ताड़का, सुबाहु और मारीच का भारी आतंक था, पर उसे समाप्त करने का कोई प्रयास राजा दशरथ की ओर से नहीं हुआ, क्योंकि उनका अपना राज्य सुरक्षित था। अयोध्या नाम ही इसलिए पड़ा कि यहाँ कभी युद्ध हुआ ही नहीं। गुरु वसिष्ठजी आतंकवाद को समूल नष्ट कराने में और किस प्रकार सहायक हुए अब इस पर विचार करते हैं। श्रीराम विवाह के पश्चात् अयोध्या नगरी में

आनंद की वर्षा हो रही थी। अब सभी नगरवासी श्रीरामजी को युवराज अथवा अपने राजा के रूप में देखना चाहते थे। महाराज दशरथ ने गुरु वसिष्ठजी से श्रीरामजी के राज्याभिषेक का शुभ मुहूर्त पूछा। गुरु वसिष्ठजी त्रिकालदर्शी थे। वे जानते थे कि अभी तो श्रीरामजी का वनवास होना है और यह आवश्यक है आतंकवाद के समूल नष्ट हेतु, अतः उन्होंने बहुत ही चतुराई से राजा दशरथ को इस प्रकार समझाया।

बेगि बिलंबु न करिअ नृप साजिअ सबुइ समाजु।
सुदिन सुमंगलु तबहिं जब रामु होहिं जुबराजु॥ (2/4)

अर्थात् हे राजन! शीघ्रता कीजिए, विलंब न करें। जब श्रीरामजी युवराज होंगे तभी शुभ मुहूर्त होगा। महाराज दशरथ ने यह समझ लिया कि जब वे युवराज पद श्रीरामजी को देंगे, उस समय स्वतः मुहूर्त हो जाएगा। श्रीरामजी की इच्छा से और सरस्वती देवी द्वारा मंथरा की बुद्धि पलटने से माँ कैकेयी ने उस पर विश्वास किया और उन्होंने महाराज दशरथ से भरत को राजतिलक और श्रीरामजी को चौदह वर्ष का वनवास माँग लिया। श्रीरामजी का यह वनवास ही आतंकवाद को समूल नष्ट कर सका। जब भरतजी चित्रकूट जाते हैं, श्रीरामजी को वापिस अयोध्या लौटाने के उद्देश्य से, तब भी गुरु वसिष्ठ ने श्रीरामजी को अयोध्या लौट आने का आदेश नहीं दिया, बल्कि सभी को यही समझाया कि श्रीरामजी की इच्छानुसार कार्य करना उचित होगा।

बोले मुनिबरु समय समाना। सुनहु सभासद भरत सुजाना॥
धरम धुरीन भानुकुल भानू। राजा रामु स्वबस भगवानू॥
सत्यसंध पालक श्रुति सेतू। राम जनमु जग मंगल हेतू॥ (2/254/1-3)

राखें राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।
समुझि सयाने करहु अब सब मिलि संमत सोइ॥ (2/254)

इस प्रकार से सभी ने अपने आपसी मतभेद भुलाकर एकजुट होकर विश्व के सबसे बड़े आतंकी रावण का अंत कराया। इससे आज विश्व के सभी राजनेताओं को यह शिक्षा लेनी चाहिए कि **आपसी मतभेद भुलाकर, निजी स्वार्थ से ऊपर उठकर विश्व-कल्याण की भावना से एकजुट होकर आतंकवाद का सामना करें।**

अवगुन आठ सदा उर रहहीं

श्रीरामचरितमानस एक ऐसा दिव्य ग्रन्थ है, जो संत शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजी ने ईश्वरीय प्रेरणा से लिखा है। बुद्धिजीवियों का मानना है कि उन्होंने तो इस महाकाव्य को केवल लिपिबद्ध किया है, लिखवाने वाले तो ईश्वर ही थे। इसका संकेत स्वयं तुलसीदासजी ने 'मानस' के प्रारंभ में ही लिख दिया है। कथा लिखते समय वे कहते हैं कि वे न तो कोई कवि हैं और न कविता लिखने का श्रेय लेना चाहते हैं, किंतु आगे चलकर वे स्पष्ट लिखते हैं कि शिवजी की कृपा से मेरे हृदय में सुमति आ गई, अतः अब श्रीरामचरितमानस को कवि तुलसीदास लिख रहे हैं, यथा-

कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ॥ (1/12/9)
भनिति मोरि सिव कृपाँ बिभाती। ससि समाज मिलि मनहुँ सुराती॥ (1/15/9)
जस कछु बुधि बिबेक बल मेरें। तस कहिहउँ हियँ हरि के प्रेरें॥ (1/31/3)
संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी॥ (1/36/1)

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि श्रीरामचरितमानस ईश्वरीय प्रेरणा से लिखा गया महाकाव्य है, अतः इसका प्रत्येक शब्द-पंक्ति मंत्रवत् है। कुछ विद्वान इसमें त्रुटियाँ निकालते हैं, पर यह उचित नहीं है। कुछ लोगों को आशंका है कि जब यह ग्रन्थ सम्पादित किया होगा, हो सकता है उस समय कुछ उपलब्ध सामग्री में त्रुटियाँ रही हों, किंतु यह आशंका भी निर्मूल है, क्योंकि गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित श्रीरामचरितमानस के प्रारंभ में ही 'नम्र निवेदन' शीर्षक के अंतर्गत प्रकाशक ने स्थिति स्पष्ट कर दी है। इस लेख में निम्नांकित चौपाई के संदर्भ में स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है-

नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥
साहस अनृत चपलता माया। भय अबिबेक असौच अदाया॥ (6/16/2-3)

जब मंदोदरी रावण को श्रीराम के ईश्वरीय स्वरूप को समझाते हुए निवेदन करती हैं कि श्रीराम से वैर भाव छोड़कर सीता को लौटा दो, तब रावण कहता

है कि स्त्रियों के हृदय में आठ अवगुण- 'साहस, अनृत, चपलता, माया, भय, अविवेक, अशौच और अदाया' सदा ही रहते हैं। इससे कुछ लोगों के मन में यह भ्रांति (आशंका) पैदा हो जाती है कि इससे नारी का अपमान हुआ है, किंतु ऐसा नहीं है, हमें पूरे प्रकरण को समझना होगा तभी सही संदेश का पता चल सकेगा। इस संदर्भ में सर्वप्रथम तो यह समझना होगा कि किस प्रसंग में कौन सा पात्र किससे संवाद कर रहा है। इस प्रकरण में रावण अपनी पत्नी मंदोदरी से वार्ता कर रहा है। यह सर्वविदित तथ्य है कि जिसकी जैसी भावना होती है वह उसी प्रकार से वार्ता करता है। एक ही तथ्य पर भिन्न-भिन्न विचार वाले अलग-अलग तरीके से अपने विचार रखते हैं, यथा-

जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥ (1/241/4)

निज निज रुख रामहि सबु देखा। कोउ न जान कछु मरमु बिसेषा॥ (1/244/7)

सभी के मन पर जो बुद्धि काम करती है वह दो प्रकार की होती है-सुमति और कुमति। अपने भाई रावण को समझाते हुए विभीषण कहते हैं कि आपके हृदय में कुमति का निवास हो गया है, इस कारण आपको सब विपरीत दिखाई देता है, आप शत्रु को मित्र और मित्र को शत्रु समझते हैं, यथा-

सुमति कुमति सब कें उर रहहीं। नाथ पुरान निगम अस कहहीं॥ (5/40/5)

तव उर कुमति बसी बिपरीता। हित अनहित मानहु रिपु प्रीता॥ (5/40/7)

इस प्रकार से जब रावण के मन में कुमति का वास है, तब वह उल्टा ही तो बोलेगा। उसने स्त्री के जो आठ अवगुण गिनाए हैं, वास्तव में सभी गुण हैं। इन पर एक-एक करके विचार करते हैं-

1. साहस

अपने धर्म, अपने सतीत्व और अपने सुहाग की रक्षा हेतु नारी में असीम साहस होता है। लंका-दहन के पश्चात् से ही मंदोदरी समझ गई थी कि राम साधारण मनुष्य नहीं हैं, बल्कि ईश्वर का अवतार हैं, इसीलिए उसने रावण को चार बार समझाया। उसने इसकी चिन्ता नहीं की कि रावण नाराज हो जाएगा, बल्कि साहसपूर्वक निम्नांकित प्रकार से चार बार वार्ता की।

(क) लंका-दहन के पश्चात्:-

सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हें। हित न तुम्हार संभु अज कीन्हें॥ (5/36/10)

(ख) श्रीरामजी द्वारा समुद्र पर पुल बनवाने के पश्चात्:-

नाथ बयरु कीजे ताहीं सों। बुधि बल सकिअ जीति जाहीं सों।।
तुम्हहि रघुपतिहि अंतर कैसा। खलु खद्योत दिनकरहि जैसा।। (6/6/5-6)

(ग) श्रीरामजी के अदृश्य बाण से अखाड़े में मंदोदरी का कर्णफूल गिर जाने के पश्चात्:-

बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु।। (6/14)

(घ) श्रीरामजी के दूत अंगद का प्रभाव देखने के पश्चात्:-

अब पति मृषा गाल जनि मारहु। मोर कहा कछु हृदय बिचारहु।। (6/36/7)
पति रघुपतिहि नृपति जनि मानहु। अग जग नाथ अतुल बल जानहु।। (6/36/8)

इस प्रकार से नारी में 'साहस' का होना अवगुण नहीं, बल्कि उसका एक महत्त्वपूर्ण गुण है।

2. अनृत

अनृत अर्थात् झूठ बोलना नारी के स्वभाव में है, कुछ लोग ऐसा मानते हैं, उनमें रावण भी एक था। वास्तव में व्यवहार की दृष्टि से तथा गृहस्थी चलाने के लिए यदि थोड़ा सा झूठ भी कह दिया जाए तो वह पाप की श्रेणी में नहीं आता। द्रोणाचार्य के वध के लिए श्रीकृष्णजी ने युधिष्ठिर से 'नरो वा कुंजरो' कहलाकर झूठ बुलवाया था। वह आवश्यकता के अनुरूप था। यदि ऐसा न किया जाता तो द्रोणाचार्य का वध असंभव था। इसी सिद्धांत का सहारा लेकर अगर गृहिणी यह कह दे कि आटा/दाल/चावल समाप्त हो गए (जबकि अभी कुछ शेष हैं), शीघ्र प्रबंध कीजिए, तो वह 'अनृत' भी उपयोगी है तथा अनृत की श्रेणी में नहीं आता। इस प्रकार से यह भी दुर्गुण नहीं, बल्कि सद्गुण है।

3. चपलता

माता-पिता दोनों पर अपनी संतान के पालन-पोषण का उत्तरदायित्व होता है, किंतु इसमें माता की भागेदारी सामान्यतया अधिक होती है। बच्चे 'चंचल स्वभाव' के होते हैं, इसलिए नारी में चपलता का होना, दुर्गुण नहीं, बल्कि

ऐसा सद्गुण है, जो उसकी संतान के पालन-पोषण में सहायक होता है।

4. माया

श्रीरामचरितमानस के उत्तरकाण्ड में ज्ञान और भक्ति के भेद के वर्णन में लिखा है कि 'नारी' स्वयं विष्णु की माया का स्वरूप ही है यथा-

सोउ मुनि ग्याननिधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि।
बिबस होइ हरिजान नारि बिष्नु माया प्रगट॥ (7/115ख)

जब नारी स्वयं विष्णु भगवान की माया का ही एक स्वरूप है, तब यह उसका अवगुण कैसे हो सकता है, अतः यह भी उसका गुण ही है।

5. भय

अपने सुहाग की रक्षा हेतु नारी सदैव सतर्कता के साथ भयभीत भी रहती है। जब रावण को मंदोदरी समझा रही थी, तब उसने कहा था कि तुम व्यर्थ ही भयभीत हो, संसार में मेरे समान कोई वीर नहीं है यथा-

सुनु तैं प्रिया बृथा <u>भय</u> माना। जग जोधा को मोहि समाना॥ (6/8/2)

पर फिर भी मंदोदरी रावण को लगातार समझाती रही। इस प्रकार से अपने सौभाग्य (सुहाग) की रक्षा के प्रति भयभीत होना (सतर्क रहना) नारी का अवगुण नहीं, बल्कि सद्गुण है।

6. अविवेक

अविवेक अर्थात् विवेक का न होना, यह नारी का दुर्गुण नहीं हो सकता, क्योंकि नारी श्रद्धा की मूर्ति है और श्रद्धा में तर्क-वितर्क अर्थात् विवेक का कोई स्थान नहीं है। नारी को 'भावना प्रधान' तथा पुरुष को 'विवेक प्रधान' माना गया है। इसका प्रमाण देखिए जनक वाटिका के प्रसंग में, जब श्रीरामजी एवं सीताजी एक-दूसरे का दर्शन करते हैं और वापिस जाते समय सीताजी रामजी के स्वरूप को अपने हृदय में धारण करती हैं और रामजी सीताजी के स्वरूप को अपने चित्त में धारण करते हैं, यथा-

जानि कठिन सिवचाप बिसूरति। चली राखि <u>उर</u> स्यामल मूरति॥
प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी॥
परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही। चारु <u>चित्त</u> भीतीं लिखि लीन्ही॥ (1/235/1-3)

इस प्रकार से नारी में 'अविवेक' अवगुण नहीं, उसका ऐसा गुण है जो उसे समाज में **'कोमलता और भावना प्रधानता'** के कारण उच्च स्थान प्रदान करता है।

7. अशौच

अशौच अर्थात् अपवित्रता का संबंध नारी के मासिक धर्म से है। यह भला अवगुण कैसे हो सकता है। इसी गुण के कारण नारी संतान को जन्म देती है और सृष्टि का सृजन होता है। रावण की दृष्टि में यह नारी का अवगुण हो सकता है, क्योंकि उसके हृदय में उस समय कुमति का वास था, पर यह नारी का एक महत्त्वपूर्ण गुण है।

8. अदाया

अदाया अर्थात् दया न करना, यह परिस्थिति विशेष में एक गुण के रूप में है, अवगुण नहीं है। बच्चों के पालन-पोषण में कभी-कभी इस गुण का उपयोग किया जाता है। जब उसकी संतान कुमार्ग पर चलने लगती है, तब कभी-कभी वह कठोरतापूर्वक अर्थात् 'अदाया' से ही उसे सन्मार्ग पर लाती है और यदि उसकी संतान को कोई रोग होता है तो उसे दूर करने के लिए भी इसी गुण का उपयोग करती है। श्रीरामचरितमानस के अनुसार -

जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥ (7/74/8)

जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥ (7/74क)

इस प्रकार से रावण ने नारी के जिन आठ अवगुणों का बखान किया, वे अवगुण नहीं, बल्कि सभी सद्गुण हैं।

इस संदर्भ मे उल्लेखनीय है कि श्रीरामचरितमानस में कहीं भी किसी के अपमान की बात नहीं है। **हमें प्रत्येक प्रसंग को सुमति के हिसाब से अवलोकन करना चाहिए।**

करम प्रधान बिस्व करि राखा

श्रीरामचरितमानस विश्व विख्यात और विश्व धरोहर के रूप में स्वीकृत, एक ऐसा दिव्य ग्रन्थ है जो समाज के हर पहलू पर सकारात्मक चिंतन प्रदान करता है। जो जितना चिंतन कर सके वह उतना ही सारगर्भित तत्व प्राप्त कर पाता है। जितनी बार 'मानस' पढ़ेंगे उतनी ही बार नए-नए भाव समझ में आने लगते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने यह दिव्य ग्रन्थ शिवजी की प्रेरणा से लिखा है। प्रारंभ में वे लिखते हैं कि मैं कोई कवि नहीं हूँ, प्रभु गुणगान करने हेतु यह रचना कर रहा हूँ, यथा-

कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ।। (1/12/9)

इसके तुरन्त बाद ही श्रीराम नाम महिमा लिखने के पश्चात्, शिवजी की कृपा का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं कि शंकरजी की कृपा से ही उनकी बुद्धि में जो स्फुरणा हुई उसी के प्रताप से श्रीरामचरितमानस का कवि तुलसी है, यथा-

संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी।। (1/36/1)

संतों का ऐसा मानना है कि श्रीरामचरितमानस केवल कोई दिव्य ग्रन्थ ही नहीं, बल्कि यह है श्रीरामजी का ग्रन्थावतार। **'पुरूषो रामचरितं श्रवणैरूप धारयन् आनृशंस्य परो राजन् कर्मबन्धैर्विमुच्यते।'** वेदव्यासजी के इस कथन के अनुसार भगवान श्रीराम की कथा साक्षात् भगवान राम का स्वरूप ही है, अतः स्पष्ट है कि श्रीरामचरितमानस श्रीराम का ग्रंथावतार है। श्रीराम का गुणगान करना अर्थात् रामकथा कर्मबन्धनों से छुटकारा दिलाने वाली है। इस ग्रंथ का प्रारंभ 'व' वर्ण (अक्षर) से हुआ है और पूर्ण भी 'व' से हुआ है। इसका प्रत्येक शब्द मंत्रवत् है। इसी दिव्य ग्रन्थ के आधार पर उपर्युक्त विषय की विवेचना की जा रही है।

सर्वप्रथम हमें 'कर्म के रहस्य' को समझना होगा। आत्मा ईश्वर का ही अंश है, जो माया के कारण जीवरूप में चौरासी लाख योनियों में भटकती

रहती है, मानस के अनुसार-

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो मायाबस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥ (7/117/2-3)

मनुष्य योनि के अलावा सभी भोग योनियाँ हैं। मनुष्य योनि कर्म तथा भोग दोनों के लिए है अर्थात् इसमें किए गए कर्मों का फल प्राप्त होता है। जीव चार प्रकार के होते हैं-जरायुज (गर्भ से उत्पन्न), अंडज (अंडे से उत्पन्न), उद्भिज्ज (जमीन फाड़कर निकलने वाले अर्थात् पेड़-पौधे) तथा स्वेदज (पसीने/नमी से उत्पन्न होने वाले जैसे अनाज के अंदर बंद डिब्बे में उत्पन्न होने वाले कीटाणु)। इन चार प्रकार के जीवों में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो कर्म करने में स्वतंत्र है। यह वर्तमान में जो कर्म करता है उसे 'क्रियमाण' कहते हैं। क्रियमाण फल देने के लिए दो भागों में विभक्त हो जाता है-'संचित' और 'प्रारब्ध'। संचित वह भाग है जो जन्म-जन्मान्तर के कर्म फलों को बाँधकर रखता है अर्थात् यही प्रमुख कर्म-भंडार है। इसी का कुछ अंश वर्तमान जन्म में भोग हेतु 'प्रारब्ध' के रूप में प्राप्त होता है। यदि किसी के प्रारब्ध में महामंडित होना निश्चित है तो वह अवश्य महामंडित होगा, किन्तु उसकी श्रेणी उसके वर्तमान कर्म अर्थात् क्रियमाण पर आधारित होती है। उदाहरणार्थ यदि किसी के प्रारब्ध में यह लेख है कि वह कारों से घिरा रहेगा, पर किस रूप में होगा, यह उसके वर्तमान पुरुषार्थ अर्थात् क्रियमाण कर्म पर आश्रित है। यदि वह सही दिशा में सत्कर्म/पुरुषार्थ करता है तो वह कोई अधिकारी या मंत्री बन जाएगा, पर यदि पुरुषार्थ नहीं किया तो ट्रैफिक पुलिस बनकर गाड़ियों से घिरा रहेगा। इसी सिद्धांत के अनुसार श्रीरामचरितमानस में ऐसा उल्लेख है-

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥ (2/219/4)

कुछ लोग भाग्य अर्थात् प्रारब्ध की प्रबलता को अधिक महत्त्व देते हुए अपनी अकर्मण्यता का दोष ईश्वर पर मढ़ते हुए निम्नांकित चौपाई का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं-

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥ (1/52/7)

श्रीरामचरितमानस की यह विशेषता है कि किसी भी शंका का समाधान

उसी प्रसंग में आगे-पीछे मिल जाता है, अत: किसी भी चौपाई-दोहा-सोरठा आदि में शंका करने से पहले पूरे प्रसंग का चिंतन करना चाहिए, तब समाधान स्वत: हो जाएगा। यह विचार करना है कि यह बात किसने-किससे-कब और किस परिस्थिति में कही है। यह प्रसंग सती मोह का है। अगस्त्य ऋषि के आश्रम से कथा सुनकर आते हुए रास्ते में शिव-सतीजी ने सीता हरण के पश्चात् श्रीरामजी के विरह-विलाप की लीला देखी। शिवजी ने दूर से ही 'जय सच्चिदानंद' कहकर प्रणाम किया, पर सतीजी को विश्वास नहीं हुआ। शिवजी ने बहुत समझाया, पर वे नहीं मानीं और परीक्षा लेने चल पड़ीं। यह उस समय का कथन है शिवजी का। जिस प्रकार कोई किसी लक्ष्य पर तीर से निशाना साधे और उसे छोड़ने के पश्चात् यदि वह सोचता है कि तीर लक्ष्य पर लगेगा या नहीं तो यह सोच वृथा है। जब तक निशाना साधा है तब तक सावधान रहना चाहिए और जब तीर छूट गया तब चिंता किस बात की, वह जहाँ लगना होगा लगे। सारांश यह है कि पहले पुरुषार्थ करिए, फिर प्रार्थना करिए और तत्पश्चात् प्रतीक्षा करिए परिणाम की, चिंता नहीं करनी चाहिए। शिवजी ने यही किया। उन्होंने सतीजी को बहुत समझाया अर्थात् पुरुषार्थ किया और फिर प्रार्थना की कि हे प्रभु अब तो वही होगा जो आपने रच रखा होगा। इसके बाद वे प्रतीक्षा करते हुए भगवन्नाम जपने लगे, यथा-

अस कहि लगे जपन हरिनामा। गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा॥ (1/52/8)

आजकल के बच्चे यदि इस प्रसंग को ठीक से समझ लें तो जीवन में कभी निराश न होंगे। हम लोग आए दिन समाचारपत्रों में पढ़ते हैं कि अमुक मेधावी विद्यार्थी ने 95 प्रतिशत से कम नम्बर आने पर आत्महत्या कर ली। यदि वे **'पुरुषार्थ-प्रार्थना-प्रतीक्षा'** के रहस्य को समझ लें, तब कभी ऐसा अनर्थ/अधर्म/महापाप न करें, अत: बच्चों में संस्कार देने की आवश्यकता है और यह होगा श्रीरामचरितमानस के पठन-पाठन, मनन-चिंतन और अनुशीलन से। इसी संदर्भ में 'मानस' की एक और निम्नांकित चौपाई भी उल्लेखनीय है-

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥ (1/128/1)

इसका भाव ठीक से न समझ पाने के कारण कुछ लोग कहते हैं कि रामजी जैसा करेंगे, जैसा चाहेंगे वैसा ही होना है, तब हमारा पुरुषार्थ क्या

करेगा। इस निर्णय पर पहुँचने के पहले हमें पूरे प्रसंग को समझना होगा। यह उस प्रकरण में लिखा गया है जब नारदजी को 'काम-विजय' का अभिमान हो गया था। परम भक्त नारदजी ने अपने भजन रूपी पुरुषार्थ-प्रार्थना से श्रीरामजी को इतना प्रसन्न कर दिया था कि उनकी प्रतीक्षा की अवधि समाप्त हो गई थी और वे इस श्रेणी में आ गए थे कि भगवान उनकी रक्षा ठीक उसी प्रकार से कर रहे थे जैसे एक माँ अपने अबोध बालक का ख्याल रखती है। नारदजी द्वारा एक बार इस संदर्भ में प्रश्न करने पर श्रीरामजी स्वयं उन्हें बताते हैं-

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।।
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।।
गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई।।
प्रौढ़ भएँ तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता।।
मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी।। (3/43/4-8)

नारदजी का मोह दूर करने के लिए अर्थात् अपने भक्त का कल्याण करने के लिए श्रीरामजी ने जो चाहा और जो माया रची उसके विपरीत कोई कुछ भी नहीं कर सकता है। वहाँ कोई पुरुषार्थ काम नहीं करेगा, ऐसा समझ लेना चाहिए।

लोग जीवन में यह अनुभव किया करते हैं कि कभी-कभी अथक प्रयास करने पर भी असफलता मिलती है, पर आगे चलकर वही असफलता बड़ी सफलता का कारण बन जाती है, अतः यथाशक्ति समय पर अपने सद्विचारों से सद्बुद्धि से सही दिशा में पुरुषार्थ करते हुए दृढ़ विश्वासी होकर प्रभु की प्रार्थना करके केवल प्रतीक्षा करनी चाहिए। कर्मफल और विश्वास समय पर अवश्य फलित होगा, सफलता चरण चूमेगी और हमारा परम कल्याण होगा।

इस परिप्रेक्ष्य में श्रीराम-जन्म की कथा उल्लेखनीय है, जिसमें भगवान को प्रकट करने का सूत्र मिलता है। राक्षसों के अत्याचार से परेशान होकर सभी देवता ब्रह्माजी के पास जाते हैं और सब मिलकर आर्तभाव से प्रार्थना करते हैं, तब अखिल ब्रह्माण्डनायक श्रीराम उन्हें आश्वासन देते हैं कि पूर्व में दिए वरदान को साकार करने हेतु वे राजा दशरथ के यहाँ अंशों सहित अवतार लेंगे। एक लम्बे अंतराल के पश्चात् भगवान श्रीराम माँ कौसल्या के कक्ष में

प्रकट होते हैं। इस कथा से भगवान को प्रकट करने का सूत्र **'पुरुषार्थ-प्रार्थना-प्रतीक्षा'** प्राप्त होता है, पर इन तीनों तत्वों में कर्म की प्रधानता है, क्योंकि पुरुषार्थ तो कर्म ही है। प्रार्थना और प्रतीक्षा भी कर्म अर्थात् पुरुषार्थ का ही स्वरूप हैं, अतः कर्म की प्रधानता का सिद्धांत निर्विवाद है। इस सिद्धांत की पुष्टि स्वयं भगवान श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवत् गीता में अर्जुन को समझाते हुए इस प्रकार करते हैं-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।। (2/47)

अर्थात् तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फलों में कभी नहीं, इसलिए तू कर्मों के फल का हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो। इस प्रकार अपने लक्ष्य को ध्यान में रखकर सतत कार्यशील रहना चाहिए। इसी से हमारा कल्याण होगा। भगवान श्रीकृष्ण कर्म के संदर्भ में एक सूत्र और देते हैं-

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।। (गीता 4/17)

अच्छा-बुरा पहचानने में हमारी बुद्धि भ्रमित हो जाती है, किंतु जब हमारे मन में स्वार्थ भावना न हो और हम विश्वबन्धुत्व तथा सर्वहिताय दृष्टिकोण से विचार करते हुए कर्म करते हैं, उस कर्म का स्वरूप जन-कल्याणकारी होता है। यदि हम हर कार्य करते समय ऐसा स्मरण रखें कि इस कार्य से जनहित हो रहा है तो यही भक्ति है, क्योंकि कर्म ही पूजा है, कर्मयोग का यही महत्त्व है और यही भगवत् प्राप्ति का द्योतक है। यह सर्वविदित है कि किसी की हत्या करना पाप है और सांसारिक न्यायालय भी इसके लिए मृत्युदण्ड की सजा देते हैं, पर जब एक सैनिक अपने देश की रक्षार्थ दुश्मन पर गोली चलाता है और अपनी वीरता से दुश्मनों पर विजय प्राप्त करता है अथवा स्वयं वीरगति को प्राप्त हो जाता है, तब उसे परमवीर चक्र से सम्मानित किया जाता है। इस प्रकार कर्म का स्वरूप कुछ भी हो, जो सर्वजनहिताय हो, वही वंदनीय है।

हमारे समक्ष मुख्य प्रश्न यह है कि दूसरों को सताने वाले, अन्याय से

धनोपार्जन करने वाले लोग सुखी क्यों दिखायी देते हैं? इसका बहुत ही सीधा और स्पष्ट उत्तर है-दूसरों को दुख देने वाला, निर्बल को सताने वाला, दीन को दुखी करने वाला, कभी सुख-संतोष प्राप्त ही नहीं कर सकता है। गरीबों का खून चूस-चूस कर बड़े-बड़े भवनों में रहने वाले, बड़ी-बड़ी गाड़ियों में घूमने वाले सुखी दिखायी देते हैं, पर क्या वास्तव में वे सुखी हैं? ऊपर से देखने में ठाठ-बाट से वे बहुत सुखी दिखायी देते हैं, परन्तु अंदर से कितने दुखी हैं, हम उसकी कल्पना नहीं कर सकते हैं। उनकी अन्तरात्मा उनके दुष्कर्मों को सदा कोसती रहती है। वे अंदर ही अंदर दुख की ज्वाला में जलते रहते हैं। द्वेष, वैर एवं विद्रोह की भावनाएँ सदा उनके मन में बसती हैं। सुख-शांति के उन्हें दर्शन नहीं होते हैं। यह निश्चित है कि यदि हम अमन-चैन चाहते हैं तो अमन-चैन कहाँ मिलेगा, सोचना होगा। जब हम दूसरे का अमन-चैन छीनते हैं तो हमें कभी अमन-चैन नहीं मिल सकता है, एक कवि के अनुसार-

अमन जिधर रखा उधर जाते नहीं, अमन कैसे मिले।
लगन राम जी से लगाते नहीं, अमन कैसे मिले॥

इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमें अच्छे-बुरे कर्मों का फल निश्चित रूप से मिलता है। देर-सबेर हो सकती है, उसके भी विभिन्न कारण हैं। वेदान्त दर्शन के अनुसार जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है कर्म के तीन स्वरूप होते हैं-(क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध)। हम मानव योनि में जो भी कर्म करते हैं वे पूर्ण होने पर तुरन्त कर्मकोष (संचित) में जमा हो जाते हैं। अनंत जन्मों के कर्मों का संचयन है-संचित और इस जन्म में पाप-पुण्य के अनुसार फलभोग हेतु संचित का एक अंश प्रारब्ध है, जिसे भाग्य कहते हैं। इस प्रकार भाग्य के निर्माता भी हम स्वयं ही हैं। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥ (2/92/4)

इस जन्म में दुष्कर्म करने पर भी प्रारब्ध के प्रभाव से सफलता मिल सकती है, पर नवीन दुष्कर्म का फल निश्चित रूप से आगे भोगना पड़ेगा, यह सभी शास्त्रों का निर्विवाद मत है। हम सांसारिक न्यायालय की दृष्टि से बचकर अपने आपको अपराधों की सजा से बचा सकते हैं, किंतु हमें ईश्वरीय

न्याय के अनुसार तो सजा मिलेगी ही। यदि इस जन्म में न मिल सकी तो अगले जन्म में मिलेगी। यही है कर्म का रहस्य, क्योंकि कोई भी कर्मफल-भोग से बच नहीं सकता है। कर्म के इस रहस्य को समझकर दुख-सुख, हानि-लाभ में समान भाव रखते हुए सर्वहिताय कर्म करना चाहिए। जिस प्रकार से भुने हुए चनों में अंकुर नहीं फूटता है, उसी प्रकार से जब समबुद्धि होती है, सर्वहितकारी कार्य होता है, अपना स्वार्थ नहीं होता है तभी निष्काम भाव से कर्म किया जाता है। उसका भी फिर कोई फल नहीं होता है और तब मनुष्य जन्म-मृत्यु के भवजाल से छूट जाता है।

इस प्रकार हमारा परम कर्तव्य है कि हम नि:स्वार्थ भाव से, निष्काम भाव से, परोपकारार्थ, लोकहित में, आसक्ति रहित होकर अपने कर्म का संपादन करें। जो दायित्व प्राप्त है, जो काम हमें दिया गया है, उस काम को हम निष्काम भाव से करें। इससे ही सुर दुर्लभ मोक्ष/भगवत्भक्ति प्राप्त होती है। **कर्म के इस रहस्य को समझ कर कार्य संपादन करने से आत्मानंद की प्राप्ति होती है और जीते जी मनुष्य निर्वाणपद अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर सकता है।**

कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी

वनवास की प्रारंभिक अवधि में श्रीरामजी, सीताजी एवं लक्ष्मणजी के साथ वाल्मीकि मुनि के आश्रम में जाते हैं और उनसे अपने रहने योग्य स्थान पूछते हैं, तब वे उन्हें 14 स्थान विशेष रूप से बताते हैं। ये सभी स्थान भक्तों के हृदय/मन हैं। इनमें एक स्थान इस प्रकार से है-

सब के प्रिय सब के हितकारी। दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥
तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं॥ (2/130/3-5)

उपर्युक्त 3 चौपाइयों में 5 तथ्यों का वर्णन है अर्थात् 5 विशेष लक्षण बताए गए हैं जिनमें से एक है-सत्य, प्रिय और विचार करके बोलना। यह कार्य बहुत कठिन है, क्योंकि सामान्यतया सत्य कड़वा लगता है, अतः आवश्यकता है कि विचारपूर्वक वाणी बोली जाए। विचार यह करना है कि जो हम बोल रहे हैं वह स्वयं के लिए, सुनने वाले के लिए और जन सामान्य सभी के लिए हितकारी है या नहीं, क्योंकि श्रीरामजी के निवास के इस स्थान में एक तथ्य 'सब के हितकारी' भी है। इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है-

ऐसी बाणी बोलिए मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करै आपहु शीतल होय॥

मधुर बचन हैं औषधी कटुक बचन है तीर।
श्रवण द्वार हौं संचरै ब्यापै सकल शरीर॥

इस दृष्टि से आवश्यक है कि 'सत्य' बात को भी विचार कर बोलें ताकि वह प्रिय भी हो और हितकारी भी हो, इसीलिए कहा गया है-

हिए तराजू तौलकर फिर मुख बाहेर आन।

सत्य के संदर्भ में श्रीरामचरितमानस में निम्नांकित प्रसंग उल्लेखनीय है, जिसमें स्वयं श्रीरामजी मंत्री सुमंत्र को समझाते हुए कहते हैं-

धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।। (2/95/5)

अतः वार्तालाप करते समय यह विचार करना आवश्यक है कि जो हम कह रहे हैं वह सत्य हो, प्रिय हो और हितकारी भी हो। इस परिप्रेक्ष्य में कल्याण के 'भक्त चरित विशेषांक' में वर्णित निम्नलिखित कथा उल्लेखनीय है-

एक संत श्रीजगन्नाथपुरी की यात्रा के दौरान एक दम्पती के घर ठहरे। रात्रि के समय वह स्त्री साधु के पास आकर अश्लील हरकतें करने लगी, क्योंकि वह साधु पर मोहित हो गई थी। साधु ने उसे परमार्थ की बातें कहीं, पर उसकी समझ में कुछ नहीं आया, बल्कि वह समझी कि साधु मेरे पति के भय से संकोच कर रहा है, अतः उसने उसी समय अपने सोते हुए पति की गर्दन काट दी। तब भी साधु विचलित नहीं हुए। प्रातःकाल उस कुल्टा स्त्री ने न्यायालय में गुहार लगाई कि इस साधु ने मेरे पति की हत्या कर दी, क्योंकि यह मुझ पर कुदृष्टि रख रहा था। न्यायाधीश ने जब साधु की बात सुनी तो विश्वास हो गया कि साधु तो निर्दोष प्रतीत होता है, किंतु हालात ऐसे हैं कि साधु पर संदेह किया जा सकता है, क्योंकि कोई स्त्री स्वयं अपने पति की हत्या कैसे कर सकती है, अतः न्यायाधीश ने बीच का रास्ता अपनाया। उन्होंने साधु को मृत्यु दंड न देकर उसके दोनों हाथ काट देने का आदेश दिया। कटे हाथों की स्थिति में ही साधु श्रीजगन्नाथपुरी पहुँचे। वहाँ भगवत् विग्रह के दर्शन से उनके हाथ पूर्ववत् ठीक हो गए। इससे उनको प्रसन्नता के साथ ही बड़ा आश्चर्य हुआ और भगवान से यह रहस्य जानने की विनती की। उन्हें रात्रि के समय स्वप्न में श्रीजगन्नाथजी ने इस प्रकार समझाया-

पूर्व जन्म में वह स्त्री गाय थी, उसका पति कसाई था और तुम मनुष्य थे। एक बार वह गाय कसाई के फंदे से बचकर भाग गई और जब कसाई ने तुमसे पूछा कि क्या तुमने एक गाय देखी है, वह किस ओर गई है, तब तुमने हाथ उठाकर इशारा किया था कि गाय उस तरफ गई है। कसाई उस दिशा में गया और गाय को पकड़ लाया तथा उसका वध कर दिया, अतः उस गाय ने स्त्री बनकर उस कसाई की जो उसका पति था हत्या कर दी। तुमने एक हाथ से इशारा किया था तो तुम्हारे दोनों हाथ कटे। इस कथा से यह सूत्र

प्राप्त होता है कि ऐसी वाणी बोली जाए कि जिससे किसी की हिंसा न हो, क्योंकि अहिंसा ही परम धर्म है। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा। पर निंदा सम अघ न गरीसा।। (7/121/22)

इस संदर्भ में एक तथ्य और जुड़ गया कि परनिंदा के समान दूसरा पाप नहीं है, अतः बोलते समय यह भी विचार करना है कि हमारी वाणी से पर निंदा न हो। जो बात हम किसी व्यक्ति विशेष के सामने न कहकर उसके पीछे कहते हैं, उसकी बुराई करते हैं वह कथन परनिंदा की श्रेणी में आता है। इस प्रकार से सत्य, प्रिय, अहिंसात्मक तथा परनिंदा रहित वचन बोलने के लिए विवेक की आवश्यकता है और विवेक केवल सत्संग से ही प्राप्त होगा तथा सत्संग भगवान की कृपा से प्राप्त होता है। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई।। (1/3/7)

अब विचार करना है कि 'राम कृपा' कैसे प्राप्त हो। जिस प्रकार सूर्य की किरणें सर्वत्र समरूप से फैलती हैं, पर यदि कोई बंद कमरे में बैठकर कहे कि मुझे सूर्य अपनी किरणों से वंचित कर रहा है तो इसमें सूर्य का क्या दोष है। इसी प्रकार 'राम कृपा' सभी पर समरूप से है, पर हम उसका अनुभव नहीं कर पाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि जब हमारे मन के अनुसार कोई कार्य नहीं होता है, तब हम कहते हैं कि हम पर 'राम कृपा' नहीं है। पर ऐसा नहीं होता अर्थात् यदि हमारे मन के अनुसार कार्य नहीं होता तो हम कहते हैं कि हम पर भगवान की कृपा नहीं है। यही माया का खेल है, अतः सदैव अपने इष्टदेव का स्मरण करते हुए बोलना चाहिए। इससे विवेक प्राप्त होगा और वही वचन निकलेंगे जो सत्य, प्रिय, हितकारी और अहिंसात्मक होंगे। इस परिप्रेक्ष्य में मेरे मामाजी (स्व0 श्रीवृजगोपाल पाठक) ने एक घटना मुझे सुनाई थी, वह इस प्रकार है-

लगभग सन् 1980 की बात है तब वे निबाड़ी (जिला टीकमगढ़, मध्य प्रदेश) में मुख्य नगरपालिका अधिकारी थे। एक बार स्थानीय विधायक के एक व्यक्ति ने उनसे नगरपालिका का ट्रैक्टर (ट्रॉली सहित) मंगाया, क्योंकि विधायक महोदय के भवन निर्माण हेतु कुछ सामग्री की आवश्यकता थी। उस दिन और कोई ट्रैक्टर कस्बे में उपलब्ध नहीं था। उन्हें बताया गया कि यदि

वे ट्रैक्टर नहीं देंगे तो आज काम बंद रहेगा और सभी मजदूर खाली बैठे रहेंगे। श्रीरामजी का स्मरण करते हुए उन्होंने स्पष्ट रूप से मना कर दिया। दूसरे दिन विधायक महोदय कुछ क्रोधित मुद्रा में आए और उनसे कहा कि पाठकजी यह आपने अच्छा नहीं किया। श्रीरामजी का स्मरण करते हुए मामाजी ने उनसे कहा कि महोदय! अब आप मंत्री बनने वाले हैं। यदि ट्रैक्टर दे देता और आपके विरोधी उसकी फोटो आपके मकान के सामने खड़े होने की स्थिति में खींचकर प्रेस को दे देते तो आपकी क्या स्थिति होती। विधायक महोदय यह सुनकर प्रसन्न मुद्रा में बोले कि पाठकजी आपने मेरी लाज बचा ली। इस प्रकार श्रीरामजी का स्मरण करके विवेकपूर्ण ढंग से प्रयास करने पर बिना असत्य बोले काम चल जाता है।

मेरे जीवन में जब भी ऐसे अवसर आए कि मैं कर्तव्यविमूढ़ हो गया कि अब क्या कहूँ, उसी समय जब-जब मैंने श्रीरामजी का स्मरण करते हुए जो कहा वह हितकारी ही रहा, अतः मैं यह दृढ़तापूर्वक कह सकता हूँ कि भगवत्स्मरण करते हुए जो वाणी निकलेगी वह निश्चित रूप से सत्य, प्रिय, अहिंसात्मक, परनिंदा रहित एवं सर्वहितकारी होगी, क्योंकि ईश्वर की कृपा से स्वयं सरस्वतीजी वाणी में विराजमान हो जाती हैं, श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥ (1/105/6)

ईश्वर की कृपा उनके सगुण साकार रूप के गुणगान से भी होती है, जिससे सद्विचार सदैव मन में बने रहते हैं, क्योंकि 'रामचरित' विचार रूपी राजा के सचिव हैं-

'सचिव सुभट भूपति बिचार के।' (1/32/6)

इस प्रकार श्रीरामजी का स्मरण करके जो बोला जाएगा वह सत्य, प्रिय एवं हितकारी ही होगा।

कभी-कभी ऐसी स्थिति बन जाती है कि न बोलना भी उचित होता है और बिना बोले हमारे व्यवहार से वह बात दूसरे की समझ में आ जाती है। 'मानस' का एक निम्नलिखित प्रसंग इस संदर्भ में उल्लेखनीय है-

शिव-सती कुंभज ऋषि के आश्रम से कथा श्रवण के पश्चात् लौट रहे

थे। मार्ग में सीताहरण के कारण श्रीरामजी नरलीला करते हुए विरह व्यथा से अत्यंत दुखी दिखाई दे रहे थे। शिवजी ने सच्चिदानंद कहकर अपने इष्टदेव को प्रणाम किया, किंतु इससे सतीजी को संशय हो गया। तब शिवजी ने उन्हें बहुप्रकार समझाया, किंतु उनकी समझ में कुछ नहीं आया, अतः शिवजी ने कहा कि स्वयं जाकर परीक्षा ले लो। सती जाती हैं और परीक्षार्थ सीताजी का वेश धारण कर लेती हैं, इससे वे समझ जाती हैं कि जो शिवजी ने कहा था, वही सत्य है। शिव समीप जाने पर उन्होंने इस प्रकार झूठ बोल दिया-

कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनामु तम्हारिहि नाईं॥
जो तुम्ह कहा सो मृषा न होई। मोरें मन प्रतीति अति सोई॥ (1/56/2-3)

तब शिवजी ध्यानस्थ हो गए और सब चरित जान लिए जो-जो सती ने किए थे। उन्होंने सतीजी पर क्रोधित न होकर श्रीरामजी की माया को प्रणाम किया, जिसकी प्रेरणा से सती न असत्य कहा। अब शिवजी बहुत दुखी हुए कि परम पवित्र सती का त्याग नहीं कर सकते और माता सीताजी का वेश धारण किया, अतः पत्नी रूप में स्वीकार भी नहीं कर सकते। इस स्थिति में उन्होंने श्रीरामजी के चरणों का स्मरण कर उन्हें प्रणाम किया और प्रभु स्मरण करने से यह संकल्प कर लिया कि इस सती शरीर से अब पत्नी के रूप में भेंट नहीं होगी। उनके मन में ऐसा संकल्प करने से देवतागण समझ गए और उनकी जय-जयकार करते हुए कहने लगे कि आप 'समर्थ राम भक्त' हैं, आपके अलावा ऐसा संकल्प और कौन कर सकता है, तब सती पूछती हैं-

कीन्ह कवन पन कहहु कृपाला। सत्यधाम प्रभु दीनदयाला।
जदपि सतीं पूछा बहु भाँती। तदपि न कहेउ त्रिपुर आराती॥ (1/57/7-8)

सती समझ गईं कि मेरा परित्याग कर दिया है और जब कैलाश पहुँचे तब शिवजी ने उन्हें वाम भाग की जगह सामने आसन दिया। **इस प्रकार बिना बोले भी संदेश पहुँच जाता है और कडुवा सत्य बोलने से बच सकते हैं।**

छबिसमुद्र हरि रूप बिलोकी

परब्रह्म परमात्मा से बिछुड़ा हुआ जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण कर रहा है। बड़े भाग्य से मानव तन प्राप्त होता है। इस मानव-तन का मुख्य उद्देश्य उस परमपिता परमात्मा को प्राप्त करना है। हम उस परमात्मा को विभिन्न रूपों में, विभिन्न नामों से भजते हैं, पूजा-अर्चना करते हैं। उसे प्राप्त करने के विभिन्न धर्मों में अनेक प्रकार के साधन बताए हैं। किसी भी साधन का उपयोग करके हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। जिस प्रकार से एक गंतव्य स्थान पर पहुँचने के लिए अनेक मार्ग होते हैं, पर जो मार्ग हमें रुचिकर लगता है उस पर चलकर हम अपने लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। इसमें मुख्य बात यह है कि इस संसार में बंधन और मोक्ष का प्रमुख कारण राग और द्वेष ही है। यदि हम राग और द्वेष सांसारिक प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति से रखते हैं, तो हम बँधते जाते हैं, लेकिन यही राग या द्वेष जब परमात्मा के साथ हो जाए तब हम माया के बंधन से छूटकर परमात्मा को प्राप्त कर सकते हैं। राग का तात्पर्य है प्रेम या अनुराग और द्वेष का है वैर। यह जानकर आश्चर्य होगा कि क्या द्वेष भी परमात्मा से कर सकते हैं? हाँ, रावण ने द्वेष किया, वैर किया और भगवान को प्राप्त हो गए, जबकि विभीषण ने अनुराग किया और वे अनुराग के माध्यम से भगवान को प्राप्त हो गए। भगवान कितने दयालु हैं, वे कहते हैं कि राक्षस मुझे वैर भाव से स्मरण करते हैं, चिंतन करते हैं। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

उमा राम मृदुचित करुनाकर। बयर भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥
देहिं परम गति सो जियँ जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी॥ (6/45/4-5)

वास्तविकता यह है कि हम जिसका चिंतन करते हैं उसी की प्राप्ति होती है। राक्षसों ने भगवान का चिंतन किया, वैर भाव से, तब भी वे भगवान को प्राप्त हुए। मुख्य उद्देश्य यह है कि ये जो राग और द्वेष बाँधने वाले हैं, यही बंधन से छुड़ाने वाले बन सकते हैं, यदि हम इनका प्रवाह परमात्मा की ओर

मोड़ दें। मनु-शतरूपा के संदर्भ में कथा है कि उन्हें बहुत दु:ख हुआ कि चौथापन आ गया, पर अभी भी हम भगवान को प्राप्त करने की दिशा में आगे नहीं बढ़े हैं। इस विचार से वे वन में तप करने के लिए चले गए और तप करते-करते उन्होंने मन में दृढ़ इच्छा व्यक्त की कि उस अखण्ड ब्रह्माण्डनायक जिसकी सत्ता से ही सब स्वत: चल रहा है, के दर्शन हो जाएँ। भगवान ने उनकी इच्छा पूर्ण की और उनके सम्मुख प्रकट हो गए। उनकी छवि को देखकर उनकी स्थिति ऐसी हो गई।

छबिसमुद्र हरि रूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी॥ (1/148/5)

मनुजी ने विचार किया कि यह छवि निरंतर देखने को तभी मिल सकती है, जब प्रभु मेरे पुत्र के रूप में आएँ, अत: उन्होंने यह वरदान माँग लिया-

दानि सिरोमनि कृपानिधि नाथ कहउँ सतिभाउ।
चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ॥ (1/149)

इस प्रकार श्रीरामजी उनके पुत्र के रूप में तब प्रकट हुए, जब वे अयोध्या नरेश दशरथ के रूप में इस धराधाम पर आए। उन्होंने स्वयं इस छवि का आनंद लिया और अन्य कई भगवत् प्रेमियों (भक्तों) को इस छवि का आनंद दिलाया। कुछ प्रसंग इस प्रकार से हैं-

(1) सबसे पहले माता कौसल्या ने इस अद्‌भुत स्वरूप के दर्शन किए।

हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्‌भुत रूप बिचारी। (1/192/छंद)

(2) अयोध्यावासी चारों भाइयों की छवि देखकर चकित रह जाते थे-

जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई। थकित होहिं सब लोग लुगाई॥(1/204/8)

(3) अपनी यज्ञ-रक्षा हेतु मुनि विश्वामित्र श्रीराम-लक्ष्मण को लेने अयोध्या आते हैं। वे श्रीरामजी के मुखारविंद की शोभा इस प्रकार से देखने लगते हैं जैसे चकोर पक्षी पूर्ण चंद्रमा की छवि को निहारता है-

भए मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा॥ (1/207/6)

(4) जब राजा जनक ने प्रथम बार श्रीरामजी के दर्शन किए तब वे अपनी देह की सुधि भूल गए।

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥ (1/215/8)

(5) जनकपुरवासी जब उनकी सुंदरता को देखते हैं, तब उनका यह हाल होता है-

धाए धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंग निधि लूटन लागी॥
जुबतीं भवन झरोखन्हि लागीं। निरखहिं राम रूप अनुरागीं॥ (1/220/2,4)

(6) पुष्प वाटिका में जब एक सखी श्रीराम-लक्ष्मण की छवि को निहारती है, तब वह दौड़ी-दौड़ी, गौरी-पूजन कर रहीं सीताजी के पास जाकर यह कहती है-

स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥ (1/229/2)

(7) स्वयं सीताजी जब श्रीरामजी का पुष्प वाटिका में प्रथम दर्शन करती हैं, तब वे उन्हें एकटक देखती रह गईं।

थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें॥ (1/232/5)

(8) धनुष-यज्ञ में जब श्रीराम-लक्ष्मण पधारे, तब उन्हें देखकर जनकपुरवासी चकित रह जाते हैं।

जहँ जहँ जाहिं कुअँर बर दोऊ। तहँ तहँ चकित चितव सबु कोऊ॥ (1/244/6)

(9) धनुष-भंग के पश्चात् श्रीपरशुरामजी अति क्रोध में आते हैं, पर श्रीरामजी की छवि देखकर उनके नेत्र थकित से रह जाते हैं।

रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन॥ (1/269/8)

(10) वनवास काल में जब ग्राम नर-नारी श्रीरामजी की छवि देखते हैं, तब वे सभी उनको ऐसे निहारते हैं जैसे चकोर पक्षी चंद्रमा को देखता है।

मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा॥
एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुख चंद चकोरा॥ (2/115/4-5)

(11) शरभंग ऋषि श्रीरामजी को अपने आश्रम में आया जानकर उनका दर्शन इस प्रकार से करते हैं-

देखि राम मुख पंकज मुनिबर लोचन भृंग।
सादर पान करत अति धन्य जन्म सरभंग॥ (3/7)

(12) शूर्पणखा के नाक-कान काटे जाने के पश्चात् खर और दूषण श्रीरामजी

पर चढ़ाई करने के लिए आते हैं, लेकिन वे भी श्रीरामजी की सुंदरता को देखकर चकित रह जाते हैं। वे कहते हैं कि देवताओं में, मुनियों में और मनुष्यों में हमने आज तक ऐसी सुंदरता कहीं नहीं देखी। ये दोनों सुंदर भाई वध करने योग्य नहीं हैं। यदि वे छिपाई हुई अपनी पत्नी को दे दें तो वे जीवित वापिस जा सकते हैं। इसके उत्तर में श्रीरामजी संदेश देते हैं कि हम तुम्हारे जैसे ही मृगों को खोजने आए हैं। तात्पर्य यह है कि राक्षस भी उनकी सुंदरता को देखकर मोहित हुए। श्रीरामचरितमानस के अनुसार–

नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं अस सुंदरताई॥
जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥
देहु तुरत निज नारि दुराई। जीअत भवन जाहु द्वौ भाई॥ (3/19/3-6)

(13) श्रीहनुमानजी सुग्रीव के कहने पर ब्राह्मण वेश धारण कर श्रीरामजी का परिचय लेने आते हैं। श्रीरामजी द्वारा अपना परिचय देने पर वे समझ जाते हैं कि ये मेरे प्रभु श्रीरामजी ही हैं और वे उनकी मुख छवि को देखते ही रह जाते हैं–

पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना॥ (4/2/6)

(14) श्रीहनुमानजी की प्रेरणा से भक्त विभीषण रावण के अत्याचारों और अनीति को उसके सम्मुख प्रस्तुत करने में सक्षम हो गए और जब उन्होंने नीति बताई कि सीताजी को लौटा दीजिए तो रावण ने विभीषण को लात मारी। इस कारण वे श्रीरामजी की शरण में आ गए। दूर से ही उन्होंने दोनों भाइयों को देखा और श्रीरामजी की छवि को देखकर वे टक-टकी लगाकर उनको देखने लगे, हालाँकि उन्होंने आते समय विचार किया था कि वे उनके चरणों को देखेंगे। विभिन्न प्रकार की कल्पना की, चरणों को देखने की, लेकिन चरणों तक नहीं पहुँच पाए, मुख छवि को देखकर वहीं अटक गए।

बहुरि राम छबिधाम बिलोकी। रहेउ ठटुकि एकटक पल रोकी॥ (5/45/3)

इस प्रकार से जिस जिसने भी, चाहे वे मुनि हों, चाहे राक्षस हों, चाहे

माता-पिता हों, चाहे सामान्य नर-नारी हों, श्रीरामजी की छवि को देखा वे ऐसे टक-टकी लगाकर देखते रहे जिस प्रकार से कि चकोर पक्षी चंद्रमा को देखता है।

काश हम उस छवि को अपने हृदय में धारण करते और उस छवि को देख-देखकर उस छवि का चिंतन करके संसार की सुंदरता से अपने मन को मोड़ लेते। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने पूरी रामचरितमानस लिखने के बाद यही प्रार्थना की कि मैं आपका स्मरण, आपका चिंतन, इस प्रकार से करूँ और आप मुझे इस प्रकार से प्रिय लगें, जिस प्रकार से कामी पुरुष को स्त्री प्रिय लगती है और लोभी को धन प्रिय होता है। सुंदरता के कारण ही स्त्री कामी पुरुष को प्रिय लगती है। यदि श्रीरामजी की यह छवि किसी के मन में बस जाए, समझिए उसका बेड़ा पार हो गया। यही जीवन का परम लक्ष्य है कि हम अपने अंदर के राग-द्वेष को, विशेषकर राग को, अनुराग को जो बटा हुआ है, उन सबको समेटकर के श्रीरामजी के चरणों में अर्पित कर दें। श्रीरामजी ने स्वयं कहा है-

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा।।
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँधि बरि डोरी।।
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं।।
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें।। (5/48/4-7)

उपर्युक्त संदर्भों को हृदयंगम करके हम प्रभु श्रीरामजी की छवि (छवि समुद्र) का चिंतन करके आत्मकल्याण कर सकते हैं।

जिय कै जरनि न जाइ

जब किसी का किसी के प्रति अटूट प्रेम होता है और जब उस पर आघात होता है तो या तो घृणा पैदा होती है, जिससे व्यक्ति अनर्थ कर बैठता है या फिर हृदय में विरह वेदना की जलन पैदा होती है और वह जलन तभी शान्त होती है, जब प्रेमी मिल जाए। घृणा तामसिक वृत्ति है और हृदय की विरह वेदना अर्थात् जलन सात्विक वृत्ति है। सात्विक वृत्ति से कभी अनर्थ हो ही नहीं सकता।

श्रीराम-वनवास प्रकरण के पश्चात् जब भरतजी अपने पिता का अंतिम संस्कार पूर्ण कर लेते हैं, तब गुरु वसिष्ठजी शुभ मुहूर्त में राज दरबार में भरतजी को आमंत्रित करते हैं और आग्रह करते हैं कि पिता के वचनों के पालन हेतु राजपाट संभालें। इस पर सभी सचिवगण अपनी सहमति व्यक्त करते हैं और माता कौसल्या भी राजपद स्वीकार करने का आग्रह करती हैं, तब भरतजी अत्यन्त व्याकुल होकर सभी को उचित उत्तर देते हुए कहते हैं कि बिना रघुनाथजी के दर्शन के मेरे हृदय की जलन नहीं मिट सकती। उनकी यह जलन सात्विक थी।

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥ (2/182)

इस प्रसंग में आगे विचार करने से पूर्व निम्नांकित दो संवाद विचारणीय हैं-

1. भरतजी यद्यपि निर्दोष हैं, पर वे गुरु जिनके लिए सारा विश्व हाथ में रखे बेर के समान है, वे भी उनकी पीड़ा को नहीं समझ पा रहे हैं।

गुर बिबेक सागर जगु जाना। जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना॥
मो कहँ तिलक साज सज सोऊ। भएँ बिधि बिमुख बिमुख सब कोऊ॥
परिहरि रामु सीय जग माहीं। कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं॥ (2/182/1-3)

2. माता कौसल्या को भरतजी के ऊपर किसी प्रकार का संदेह नहीं था तथा जब वे ननिहाल से आकर उनसे मिले तब उन्हें ऐसा लगा कि मानो उनका राम वापिस आ गया। उनके मातृत्व की पराकाष्ठा इस प्रकार की थी-

सरल सुभाय मायँ हियँ लाए। अति हित मनहुँ राम फिरि आए॥ (2/165/1)

मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए। थन पय स्रवहिं नयन जल छाए॥ (2/169/4-5)

जब गुरु वसिष्ठ एवं माता कौसल्या जिनका ज्ञान और जिनकी भावना उपर्युक्त वर्णित है, दोनों ने भरतजी को राजपद ग्रहण करने का आग्रह किया, तब उनकी पीड़ा और बढ़ गई और उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि बिना श्रीरामजी के दर्शन के उनके हृदय की जलन दूर नहीं हो सकती। उन्होंने आज्ञा माँगी कि श्रीरामजी को मनाने चित्रकूट जाऊँ। तब सभी अति प्रसन्न हुए और भरतजी की सराहना करने लगे।

भा सब कें मन मोदु न थोरा। जनु घन धुनि सुनि चातक मोरा॥
चलत प्रात लखि निरनउ नीके। भरतु प्रानप्रिय भे सबही के॥ (2/185/1-2)

इस प्रकार अपने हृदय की जलन मिटाने के लिए श्रीरघुनाथजी के दर्शनार्थ भरतजी सभी के साथ चित्रकूट को चल दिए, पर जाने से पूर्व अयोध्या की सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था की। उनका विचार इस प्रकार था-

संपति सब रघुपति कै आही। जौं बिनु जतन चलौं तजि ताही॥
तौ परिनाम न मोरि भलाई। पाप सिरोमनि साइँ दोहाई॥ (2/186/3-4)

अतः उन्होंने इस प्रकार व्यवस्था की-

करि सबु जतनु राखि रखवारे। राम मातु पहिं भरतु सिधारे॥ (2/186/8)

इस प्रसंग से यह भी शिक्षा मिलती है कि भले ही आपके हृदय में जलन हो, अत्यधिक दुखी हों, पर अपनी जिम्मेदारी इस स्थिति में भी पूरी तरह निभानी चाहिए। भरतजी जब चित्रकूट पहुँचते हैं तब वे दूर से श्रीरामजी का दर्शन करते हैं और इस दूर के दर्शन मात्र से ही उनकी हृदय की जलन समाप्त हो जाती है, क्योंकि श्रीरामजी के दर्शन मात्र से ही सभी की जलन शान्त हो

जाती है। चित्रकूट का यह दृश्य इस तथ्य को प्रमाणित करता है–

कर कमलनि धनु सायकु फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥ (2/239/8)

जैसा प्रारम्भ में वर्णन किया गया है हृदय की जलन दो प्रकार की होती है–सात्विक और तामसिक। जब ईश्वर के प्रेम में विभोर प्राणी उनके विरह में तड़पता है, तब वह सात्विक जलन है जो भरतजी की थी, पर जब व्यक्ति दूसरे के सुख को देखकर जलता है वह जलन तामसिक है। काकभुशुंडिजी गरुड़जी के सात प्रश्नों के उत्तर देते समय इसका उल्लेख इस प्रकार करते हैं–

पर सुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥ (7/121/34)

इस प्रसंग से यह शिक्षा मिलती है कि सात्विक जलन ही कल्याणकारी है और जब तक यह जलन पैदा नहीं होगी, तब तक जीव का कल्याण संभव नहीं है। यह स्थिति बिना भगवत्–भजन के संभव नहीं है। भक्त विभीषण श्रीरामजी से यही कहते हैं–

तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोक धाम तजि काम॥ (5/46)

जिहि सब भाँति तुम्हार भरोसा

अखिल ब्रह्माण्डनायक, कण-कण में व्याप्त निराकार ब्रह्म श्रीरामजी के रूप में सगुण-साकार क्यों हुए? इस प्रश्न का उत्तर देने हेतु भगवान शिवजी ने विभिन्न कारणों का वर्णन किया और पार्वतीजी से कहते हैं कि एक बार नारदजी का शाप भी श्रीरामावतार का कारण बना। यह सुनकर आश्चर्यचकित होकर पार्वतीजी कहती हैं कि ऐसा कौन सा अपराध रमापति ने कर दिया कि नारद जैसे ज्ञानी विष्णु भक्त को शाप देने के लिए बाध्य होना पड़ा। यहाँ पर यह विचारणीय है कि नारदजी पार्वतीजी के गुरु हैं और उनका अपने गुरु के प्रति अटूट विश्वास के साथ इतनी निष्ठा है कि वे यह सोच ही नहीं सकतीं कि उनसे यह अपराध हो सकता है, बल्कि अपराध तो विष्णुजी ने किया होगा। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

कारन कवन श्राप मुनि दीन्हा। का अपराध रमापति कीन्हा॥ (1/124/7)

इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप शिवजी समझाते हैं कि किसी भक्त के हित में ईश्वर को जब जो कुछ करना होता है, तब वही होता है जो भगवान चाहते हैं, फिर उसमें इसका कोई अर्थ नहीं होता कि कोई ज्ञानी है या मूढ़, यथा-

बोले बिहसि महेस तब ग्यानी मूढ न कोइ।
जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ॥ (1/124क)

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥ (1/128/1)

अब शिवजी नारद-शाप की कथा सुनाते हुए कहते हैं कि एक बार नारदजी हिमालय पर्वत की एक पवित्र गुफा के समीप गए। वहाँ पर समीप में ही गंगाजी की निर्मल धारा कल-कल करती हुई बह रही थी, बड़ा ही मनोरम प्राकृतिक दृश्य था। इस पावन गुफा में बैठकर नारदजी 'हरिस्मरण' करने लगे और उनकी समाधि लग गई, यद्यपि वे शापित थे कि एक घटी (24 मिनट) से अधिक किसी स्थान पर नहीं रुक सकते थे, किंतु 'हरिस्मरण' से शाप निष्प्रभाव हो गया, यथा-

सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी। सहज बिमल मन लागि समाधी॥ (1/125/4)

नारदजी को समाधिस्थ देखकर देवराज इन्द्र को चिंता हुई कि कहीं नारदजी इन्द्रासन प्राप्ति की इच्छा से तो नहीं तप कर रहे और इस शंकाग्रस्त होने पर उन्होंने कामदेव को नारदजी की समाधि भंग करने को भेजा। उसने अनेक उपाय किए, पर नारदजी की समाधि भंग नहीं हुई। अंत में हारकर कामदेव मुनि की शरण में जाकर क्षमायाचना करने लगा। इस घटना से नारदजी को अभिमान हो गया कि उन्होंने कामदेव को जीत लिया है। नारदजी ने विचार किया कि शिवजी पर भी कामदेव ने प्रहार किया था और उन्हें क्षोम हो गया था, किंतु मुझे तो ऐसा कुछ भी नहीं हुआ, अतः यह समाचार सबसे पहले शिवजी को सुनाना चाहिए, यथा–

तब नारद गवने सिव पाहीं। जिता काम अहमिति मन माहीं॥ (1/127/5)

उन्होंने संपूर्ण वृत्तांत शिवजी को सुनाया। तब शिवजी ने उनको समझाया कि जिस प्रकार यह कथा मुझसे कही है उस प्रकार से कभी भी विष्णुजी से नहीं कहना और यदि प्रसंग चले भी तो इसे छिपाने का प्रयास करना। शिवजी ने उचित शिक्षा दी, किंतु यह नारदजी को नहीं भाई और वे एक बार स्वयं क्षीरसागर पहुँच गए और अभिमान पूर्वक पूर्ण वृत्तांत सुनाने लगे। श्रीहरि समझ गए कि नारद के मन में अभिमान रूपी विशाल वृक्ष का अंकुर उत्पन्न हो गया है और उन्होंने निश्चय किया इस गर्वतरु के अंकुर को शीघ्र ही उखाड़ दूँगा, क्योंकि अपने भक्त के हित की रक्षा करना मेरा प्रण है। श्रीरामचरितमानस के अनुसार–

करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गरब तरु भारी॥ (1/129/4)

श्रीहरि की इच्छा के आगे फिर किसी की नहीं चलती। वे जिसको जैसे नचाना चाहें, नचाते हैं। ईश्वर की माया ने नारदजी के मार्ग में एक विशाल नगरी का निर्माण कर दिया और उस समय वहाँ के राजा शीलनिधि की कन्या विश्वमोहिनी का स्वयंवर रचा जा रहा था। ईश्वरीय प्रेरणा से नारदजी वहाँ पहुँच गए। शीलनिधि राजा ने उनका भव्य स्वागत किया और फिर अपनी पुत्री को बुलाकर उसकी हस्तरेखा देखने का निवेदन किया। हस्तरेखा देखकर नारदजी चकित होकर उसके गुण हृदय में धारण करके उन्होंने कुछ बनावटी गुण राजा को बताए, यथा–

देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥
लच्छन तासु बिलोकि भुलाने। हृदयँ हरष नहिं प्रगट बखाने॥
जो एहि बरइ अमर सोइ होई। समरभूमि तेहि जीत न कोई॥
सेवहिं सकल चराचर ताही। बरइ सीलनिधि कन्या जाही॥
लच्छन सब बिचारि उर राखे। कछुक बनाइ भूप सन भाषे॥ (1/131/1-5)

यहाँ पर यह विचारणीय है कि नारदजी ने हस्तरेखा में क्या देखा। विद्वानों का मत है कि माया विमोहित होने के कारण उन्होंने उल्टा समझ लिया। वास्तव में वह कन्या और कोई नहीं, बल्कि ईश्वर की माया ही थी और माया का वरण तो केवल भगवान ही कर सकते हैं, पर अब नारदजी ने ठान लिया कि कैसे भी हो इस कन्या को मैं ही वरण करूँगा। उन्होंने विचार किया कि इस समय जप-तप करने का तो समय ही नहीं है, अतः केवल श्रीहरि को ही पुकारना चाहिए। उन्होंने भगवान को आर्त्त हृदय से स्मरण किया, तो श्रीहरि प्रकट हो गए। नारदजी ने पूर्ण वृत्तांत सुनाया और उनका रूप माँग लिया, ताकि वह कन्या उन्हें वरण कर सके। नारदजी ने इस प्रकार प्रार्थना की थी-

आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहिं पावौं ओही॥
जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा॥ (1/132/6-7)

यहाँ पर विचारणीय है कि नारदजी ने श्रीहरि से उनका रूप तो माँगा, पर साथ ही यह भी प्रार्थना की कि जिसमें मेरा कल्याण हो, वही आप करें। हमारे लिए भी यह संदेश है कि हम भगवान से अपनी इच्छानुसार मांग तो करें, पर यह भी साथ में प्रार्थना करें कि जिसमें हमारा कल्याण हो वही कीजिए। नारदजी को श्रीहरि ने अपना हरि (बंदर) रूप दे दिया। वे हर्षित होकर स्वयंवर में पहुँचे। वहाँ पर शिवजी के दो गण भी उपस्थित थे, क्योंकि वे कौतुक देखना चाहते थे। ये दोनों शिवगण तभी से पीछे लग गए थे जब नारदजी शिवजी के पास गए थे ताकि उन्हें कुछ कौतुक देखने को मिले। अब वे नारदजी की हँसी उड़ा रहे हैं। कहते हैं कि आपकी सुन्दरता को देखकर कन्या आपके गले में ही जयमाला डालेगी, पर ऐसा नहीं हुआ। उनके कुरूप को देखकर वह कन्या उस पंक्ति में ही नहीं गई जहाँ नारदजी बैठे थे। उसी समय श्रीहरि राजा के रूप में पधारे और उस कन्या ने उनके गले में वरमाला डाल दी, जिसे देखकर नारदजी अत्यंत विकल हो गए, तब शिवगणों ने बताया

कि अपना मुख तो दर्पण में देख लीजिए और ऐसा कहकर वे भाग गए। अब नारदजी ने जल में अपना मुख देखा तो बंदर का मुख दिखाई दिया, पर पुनः देखा तो अपना असली रूप देखा। इस घटना से नारदजी ने अत्यंत क्रोधित होकर पहले दोनों शिवगणों को राक्षस होने का शाप दिया और फिर श्रीहरि को शाप देने के उद्देश्य से क्षीरसागर को चल दिए, यथा-

फरकत अधर कोप मन माहीं। सपदि चले कमलापति पाहीं॥
देहउँ श्राप कि मरिहउँ जाई। जगत मोरि उपहास कराई॥ (1/136/2-3)

इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि यदि एक सद्गुण हमारे अंदर आता है तो दूसरे सद्गुण स्वतः आने लगते हैं। इसी प्रकार से एक दुर्गुण आते ही अन्य दुर्गुण स्वतः आने लगते हैं। विचार कीजिए-नारदजी को अभिमान हुआ कामदेव-विजय पर तो फिर मोह हो गया, मोहित हो गए विश्वमोहिनी को देखकर। इसके बाद इच्छा जाग्रत हुई उसे पाने की अर्थात् एक आशा लेकर श्रीहरि से प्रार्थना की। विश्वमोहिनी के न मिलने पर क्रोध हुआ और जब काम-मोह-क्रोध तीन शत्रु आ गए, तब वे भगवान के मार्ग पर कैसे चल सकते थे। काम-क्रोध आदि विचारों का पंथ तो नरक का बताया गया है। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत॥ (5/38)

यही भाव गीता में भी कहा गया है, यथा -

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ (2/63)

इसीलिए श्रीहरि बीच रास्ते में ही प्रकट हो गए, क्योंकि जिस रास्ते (काम-मोह-क्रोध) पर वे चल रहे थे, उससे तो वे श्रीहरि तक कभी भी नहीं पहुँच सकते थे। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

बीचहिं पंथ मिले दनुजारी। संग रमा सोइ राजकुमारी॥ (1/136/4)

विश्वमोहिनी के साथ श्रीहरि को देखकर नारदजी का क्रोध अत्यंत प्रबल हो गया और उन्होंने बहुत सी अनर्गल बातें कहते हुए श्रीहरि को इस प्रकार से शाप दे दिया-

बंचेहु मोहि जवनि धरि देहा। सोइ तनु धरहु श्राप मम एहा।।
कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी। करिहहिं कीस सहाय तुम्हारी।।
मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारि बिरहँ तुम्ह होब दुखारी।। (1/137/6-8)

श्रीहरि ने शाप धारण करके अपनी माया की प्रबलता को रोक दिया और तब वहाँ से लक्ष्मी और विश्वमोहिनी अन्तर्धान हो गईं। श्रीहरि की माया का प्रभाव समाप्त होते ही नारदजी भगवान के चरणों में गिरकर क्षमा-याचना करने लगे। श्रीहरि ने कहा कि यह सब मेरी इच्छा से हुआ है, ऐसा कहकर श्रीहरि भी अन्तर्धान हो गए। मुनि को शांत मन देखकर अब वे दोनों शिवगण आए और शाप निवारण हेतु प्रार्थना करने लगे। नारदजी ने कहा कि तुम दोनों राक्षस तो होओगे, पर बहुत वैभवशाली और बलवान होने से संपूर्ण विश्व को जीत लोगे और तब श्रीहरि मानव तन धारण करके तुम्हारा संहार करेंगे जिससे तुम मुक्ति प्राप्त करोगे।

इस प्रसंग में विचारणीय है कि नारदजी को काम-विजय का अभिमान इसलिए हुआ कि उन्होंने इस पर विचार नहीं किया कि वे समाधिस्थ कैसे हो सके, क्योंकि उन्हें तो एक घटी (24 मिनट) से अधिक एक स्थान पर न टिक पाने का शाप था, पर 'सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी' (1/125/4) इस तथ्य पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया अर्थात् यदि समाधिस्थ न होते तो फिर कुछ नहीं होता और समाधिस्थ हुए श्रीहरि के स्मरण से (ईश्वर कृपा से)। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि काम-विजय का श्रेय तो उनके 'हरिस्मरण' का है, फिर व्यर्थ ही उन्होंने अभिमान किया और इतना कष्ट पाया। यही हाल हमारा है। कुछ भी सफलता हाथ लगी तो कहते हैं कि यह मेरा पुरुषार्थ है और यदि कुछ गड़बड़ हुआ तो अपनी त्रुटियों पर ध्यान न देकर कहते हैं, ऐसी ही होगी प्रभु इच्छा। इस संदर्भ में मानस की यह चौपाई अनुकरणीय है-

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। <u>जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा</u>।। (2/131/3)

अर्थात् यह समझना चाहिए कि यदि मुझमें कोई गुण है तो वह भगवत्कृपा से है और यदि कोई दोष है तो वह मेरे कारण है। यह भाव तभी आएगा जब हम भगवत्शरण होकर सभी प्रकार से भगवान पर भरोसा करें। इस भाव में रहने से कभी अभिमान नहीं होगा। विचार कीजिए बैंक का

केशियर दिन भर लाखों-करोड़ों रुपयों की गिनती करता है, पर उसको उस धनराशि से कोई लगाव नहीं रहता, बल्कि यह ध्यान रखता है कि यदि लेन-देन में कोई भूल-चूक हो गई तो उसका हरजाना मुझे भरना पड़ेगा। इसी प्रकार से यदि हमें धन-सम्पत्ति प्राप्त हुई है तो उसका उचित ढंग से उपयोग करना चाहिए। यह समझना चाहिए कि यह सब भगवान का है मैं तो उनके एक प्रबंधक के रूप में कार्य कर रहा हूँ। सदैव इस भाव में रहने से कभी धनवान होने का अभिमान नहीं आएगा।

हम सामान्य जन की तो कोई गिनती ही नहीं है, बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों को भी मायावश होकर काम-क्रोध-लोभ में फँसते देखा गया है। विश्वामित्रजी जैसे महान मुनि को मेनका ने मोह लिया और उनकी साधना भंग कर दी। मानस रोगों का वर्णन करते हुए काकभुशुण्डिजी कहते हैं कि सभी रोगी हैं, किंतु विरले ही इनको अपने में देख पाते हैं और देख लेने पर कुछ उपचार कर लेते हैं, पर ये मानस रोग जड़ से समाप्त नहीं होते हैं। सामान्य मानव की बात ही क्या, मुनियों के हृदय में भी ये बीज रूप में रहते हैं और विषयरूपी कुपथ्य पाकर अंकुरित हो जाते हैं। ईश्वर की कृपा से ही इनका नाश संभव है, यथा-

मानस रोग कछुक मैं गाए। हहिं सब कें लखि बिरलेन्ह पाए॥
जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी॥
बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदयँ का नर बापुरे॥
राम कृपाँ नासहिं सब रोगा। जौं एहि भाँति बनै संजोगा॥ (7/122/2-5)

इस संदर्भ में कुछ लोगों का विचार है कि जब सब रामकृपा से ही होना है और वही होता है जो रामजी चाहते हैं, **'होइहि सोइ जो राम रचि राखा'** (1/52/7), तब फिर हमारे पुरुषार्थ करने से क्या लाभ, पर वे कर्म के सिद्धांत, **'करम प्रधान बिस्व करि राखा'** (2/219/4) को भूल जाते हैं, अतः हमें पुरुषार्थ करते रहना चाहिए। गीता में भी यही उपदेश है, यथा-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ (2/47)

इस प्रकार भगवान पर भरोसा (विश्वास) रखकर अपना कर्तव्य निष्ठापूर्वक करते रहना चाहिए। फिर जो भी प्रभु करेंगे, हमारे लिए कल्याणकारी ही होगा।

ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी

श्रीरामचरितमानस एक ऐसा अलौकिक दिव्य ग्रंथ है कि इसके एक-एक शब्द का मरम जानने के लिए विद्वानों को इतना अधिक विचार-मंथन करना पड़ता है, जितना किसी ग्रंथ को पूरा पढ़ने में समय देना होता है। मानस में कुछ चौपाइयों/प्रसंगों के भावार्थ में विद्वानों के विभिन्न मत हो सकते हैं, पर अधिकांश लोग कभी भी किसी भी प्रसंग को समाज विरोधी, नारी विरोधी आदि कुछ भी आरोपित नहीं करते हैं। कुछ भ्रांतियाँ हो जाती हैं वे भी सही परिप्रेक्ष्य में अवलोकन करने से दूर हो सकती हैं। उपर्युक्त शीर्षक की अर्धाली में भी कुछ भ्रांति लोगों के मन में है, जिसे दूर करने का प्रयास इस लेख में किया जा रहा है।

गोस्वामी तुलसीदासकृत श्रीरामचरितमानस एक ऐसा ग्रंथ है, जिसमें समाज के सभी वर्गों के हितों के लिए ऐसे जीवन-सूत्र हैं, जिनके अनुसरण करने से इहलोक और परलोक दोनों सुधर सकते हैं। यह महाकाव्य भगवान शिव की प्रेरणा से ही गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है। इसके प्रारंभ में ही प्रथम काण्ड (बालकाण्ड) के 36वें दोहे की प्रथम चौपाई में उन्होंने लिखा है-

संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी।। (1/36/1)

यह लिखने के साथ ही उन्होंने इसमें सुधार करने की बात भी लिखी है यथा-**'सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी'** (1/36/2) अर्थात् सज्जन लोग अपनी सद्बुद्धि से इसमें सुधार कर सकते हैं, पर विचारणीय तथ्य यह है कि इसके लिए दो शर्तें हैं-एक तो सुधार करने वाला सुजन अर्थात् सज्जन होना चाहिए और दूसरे वह अपनी सुमति अर्थात् सद्बुद्धि से यह कार्य करे। उल्लेखनीय है कि कुछ विद्वानों ने श्रीरामचरितमानस की कुछ चौपाइयों में, जिनमें शीर्षकान्तर्गत चौपाई भी शामिल है, सुधार किया है, किंतु संत समाज ने इस सुधार को इस तर्क के साथ अस्वीकार कर दिया कि जब यह महाकाव्य भगवान शिवजी की प्रेरणा से लिपिबद्ध किया गया है, तब हम

उसमें सुधार कैसे कर सकते हैं। हमें चौपाइयों के संदर्भित परिप्रेक्ष्य में सकारात्मक सही अर्थ की खोज करनी चाहिए। आजकल कुछ लोग श्रीरामचरितमानस की कुछ चौपाइयों का अर्थ का अनर्थ करने में लगे हैं। उनकी शंका निवारणार्थ कुछ विवेचना निम्नांकित चौपाई के संदर्भ में प्रस्तुत हैं–

ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥ (5/59/6)

यह सुंदरकाण्ड के 59वें दोहे की छठवीं चौपाई है। इस पर विवेचना करने से पूर्व सिद्धांत रूप में यह समझ लेना आवश्यक है कि यह किसने कहा है, किससे और कब कहा है तथा किस परिस्थिति में कहा है। श्रीरामचरितमानस के सभी प्रसंगों में इस प्रकार वस्तुस्थिति समझने की आवश्यकता है। दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि हमारी विचारधारा का प्रभाव अर्थ समझने पर पड़ता है। यह प्राकृतिक नियम है कि जिसके मन में जैसे भाव होंगे, उसे संपूर्ण प्रकृति और समाज वैसा ही प्रतीत होगा। सुख की स्थिति में हमें चंद्रमा शीतलता प्रदान करता है, किंतु विरह की स्थिति में वही दुखमय लगता है। विरहाकुल सीताजी अपनी व्यथा व्यक्त करती हुई कहती हैं–

पावकमय ससि स्रवत न आगी। मानहुँ मोहि जानि हतभागी॥ (5/12/9)

उपर्युक्त चौपाई में यही भाव प्रकट है अर्थात् यदि हम सकारात्मक भाव से विचार करेंगे तो हमें श्रीरामचरितमानस की चौपाई सद्शिक्षा प्रदान करेगी और हमें सावधान करेगी कि किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए। जिसके मन में जैसा भाव होता है, उसे सब कुछ अपने भाव के अनुसार दिखाई देता है। जब श्रीरामजी धनुष–यज्ञ में जाते हैं, तो भक्तजन उन्हें ईश्वर के रूप में, राक्षसगण भयानक रूप में और राजा जनक के लोग एक सगे संबंधी के रूप में उनका दर्शन करते हैं–

जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥ (1/241/4)

रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा॥ (1/241/7)

जनक जाति अवलोकहिं कैसें। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसें॥ (1/242/2)

यही भाव श्रीरामचरितमानस की चौपाइयों के संदर्भ में भी समझना चाहिए। सर्वप्रथम इस चौपाई में 'ताड़ना' शब्द को सही अर्थ में समझना होगा।

मानस के किसी भी प्रसंग को मनन-चिंतन करने हेतु यह अत्यंत आवश्यक है कि पूरे प्रकरण को समझा जाए अर्थात् किसने, कब, किससे, किस परिप्रेक्ष्य में एवं किस परिस्थिति में कहा है। दूसरी मुख्य बात यह है कि हमें शब्दों को समझना चाहिए। एक शब्द के कई अर्थ होते हैं। हम किस अर्थ को लेकर व्याख्या कर रहे हैं यह भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ 'हरि' शब्द के दो अर्थ हैं एक है भगवान विष्णु और दूसरा है बंदर। इसका प्रमाण नारद-मोह के प्रसंग में मिलता है। जब नारदजी मायाग्रस्त हो जाते हैं और विश्वमोहिनी से विवाह हेतु भगवान से प्रार्थना करते हैं उस प्रसंग में लिखा है-

हरि सन मागौं सुंदरताई। होइहि जात गहरु अति भाई॥ (1/132/1-2)

मोरें हित हरि सम नहिं कोऊ। एहि अवसर सहाय सोइ होऊ॥
आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहिं पावौं ओही॥ (1/132/6)

इस प्रसंग में नारदजी बार-बार हरि शब्द का प्रयोग करते हैं अर्थात् वे 'हरि' का रूप चाहते हैं, 'हरि' शब्द का अर्थ बंदर भी है, अतः भगवान ने उन्हें बंदर का रूप दे दिया।

संदर्भित चौपाई में 'ताड़ना' शब्द का विशेष महत्त्व है। ताड़ना के कई अर्थ होते हैं। सामान्यतया ये अर्थ प्रचलित हैं-डाँटना, पीटना, कष्ट देना, सुधार हेतु कष्ट देना और समझना (जानना)। इस प्रसंग में यदि समझना अर्थ लें तो गुत्थी स्वतः सुलझ जाएगी। जैसे हम कहते हैं कि मैंने उसकी बात को ताड़ (समझ) लिया था और सचेत हो गया। एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य है मानस के संदर्भ में कि जब कभी कहीं संदेह की स्थिति उत्पन्न हो, उसका निराकरण उसी प्रसंग में दो-चार चौपाइयों के आगे-पीछे मिल जाएगा। इस प्रसंग में भी ऐसा ही है।

श्रीरामजी सेना सहित लंका जाने के लिए विभीषणजी की सलाह पर समुद्र से प्रार्थना करते हैं और जब तीन दिन बीत जाने पर भी समुद्र की ओर से कोई प्रतिक्रिया नहीं होती है तब श्रीरामजी कहते हैं-

सठ सन बिनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपन सन सुंदर नीती॥
ममता रत सम ग्यान कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी॥
क्रोधाहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बएँ फल जथा॥ (5/58/2-4)

इतना कहकर श्रीरामजी धनुष पर बाण चढ़ा लेते हैं। इससे समुद्र का जल

खौलने लगता है। तब वह प्रकट होकर विनती करता है कि हे प्रभु! आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी ये पंच महातत्त्व आपकी माया ने ही सृष्टि रचना हेतु सृजित किए हैं और वे वही करेंगे जो आपकी आज्ञा होगी। इसके विपरीत किसी में शक्ति नहीं है कि वह कुछ कर सके। मुझे क्षमा करें, मैं जड़ बुद्धि आपकी माया को और आपको नहीं समझ पाया, क्योंकि मैं आपकी मायावश अभिमान ग्रस्त था। समुद्र कहता है–

गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कइ नाथ सहज जड़ करनी॥ (5/59/2)

ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी॥ (5/59/6)

समुद्र अर्थात् जल, प्रकृति के पंच महाभूतों में से एक है। वह कहता है कि इनको सूक्ष्मता से समझने की आवश्यकता है। यदि आपने मेरी जड़ता को पहले से ताड़ लिया होता तो आप अपने तीन दिवस मुझसे प्रार्थना करने में बर्बाद न करते, बल्कि लक्ष्मणजी के सुझाव के अनुसार पहले ही मुझ पर धनुष तान देते। इसी संदर्भ में उसने ही पंच महाभूतों को भलीभाँति ताड़ने (समझने) का सुझाव दिया है। अब विचार करें कि उसने किससे किसकी तुलना की है। उपर्युक्त दोनों चौपाइयों के क्रम में देखें तो ज्ञात होगा कि ढोल की तुलना गगन (आकाश) से, गवाँर की तुलना समीर (हवा) से, शूद्र की तुलना अनल (अग्नि) से, पशु की तुलना जल से और नारी की तुलना धरनी (पृथ्वी) से की है। यदि हम सकारात्मक सोच से विचार करें तो इसका अर्थ इस प्रकार से निकलता है।

1) **ढोल**–ढोल केवल आकाश (स्पेस) में बज सकता है। ढोल बजाते समय उसे ताड़ना पड़ता है अर्थात् पहले यह देखना होता है कि वह ठीक से कसा (बँधा) है या नहीं। यदि वह ढीला होगा तो उस पर चोट पड़ते ही वह टूट सकता है। ठीक से बँधा होने पर उसे इसके लिए ताड़ना (समझना) पड़ता है कि उसके किस अंग पर किस गति से चोट की जाए ताकि उससे वांछित स्वर प्राप्त हो सके। यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि ढोल को केवल पीटने की बात नहीं है, उसे ताड़ कर (समझ कर) उस पर सही प्रकार से बजाने के उद्देश्य से उस पर चोट की जाती है न कि उसे फाड़ने के उद्देश्य से।

2) **गवाँर**–गवाँर उस व्यक्ति को कहते हैं जो अपनी बुद्धि का उपयोग न

करके जो जैसा कहे उसकी ही बात मानकर कार्य करने लगता है। गवाँर की तुलना समीर (हवा) से की गई है। हवा कब किस दिशा में चल पड़े, आम लोगों की समझ से बाहर है, हालाँकि अब वैज्ञानिक बता देते हैं कि कहाँ कितना दबाव है और इस कारण हवा की गति और दिशा क्या होगी, इस सिद्धांत के अनुसार गवाँर के साथ व्यवहार करते समय उसके इस स्वभाव को ताड़ (समझ) लेना आवश्यक है।

3) **सूद्र**-शूद्र की तुलना अग्नि से की गई है। जिस प्रकार अग्नि शुद्ध और अशुद्ध सभी को जलाकर भस्म करके उसे पवित्र कर देती है, उसी प्रकार शूद्र भी समाज को पवित्र करता है। 'शूद्र' शब्द को समझने के लिए हमें सबसे पहले अपने शरीर को समझ लेना चाहिए। समाज के जिन चारों वर्णों का शास्त्रों में उल्लेख है, उनका समावेश हमारे शरीर में है। हम सभी मानव शूद्र रूप में ही पैदा होते हैं, पर संस्कारों के माध्यम से ही हम ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बनते हैं। यदि उचित संस्कार न मिले, तो हम सभी शूद्र ही हैं। ब्राह्मण को द्विज कहा गया है। द्विज का अर्थ है, दूसरा जन्म अर्थात् जब ब्राह्मण बालक का जनेऊ संस्कार होता है तभी वह ब्राह्मण बनता है और तभी तक वह ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी है, जब तक वह त्रिकाल संध्या करके ब्राह्मण धर्म का पालन करता है अन्यथा वह शूद्र ही है।

4) **पसु**-पशु की तुलना जल से की गई है। जल का स्वभाव है कि वह गुरुत्वाकर्षण के कारण ऊपर से नीचे की ओर बहता है। ऊपर ले जाने के लिए उस पर यंत्र (मशीन) का प्रयोग करना पड़ता है। इसी प्रकार से पशु को ताड़ना (समझना) पड़ता है कि वह किस दिशा में जा रहा है और हमें उसे किस दिशा में ले जाने की आवश्यकता है। एक भेड़ जिस दिशा में चलती है, सभी उसका अनुसरण करके उसके पीछे-पीछे चल पड़ती हैं। इसी को 'भेड़ चाल' कहते हैं, अतः हमें पशु की इस प्रवृत्ति को ताड़ कर (समझ कर) उसके साथ व्यवहार करना चाहिए।

5) **नारी**-नारी की तुलना धरणी (पृथ्वी) से की गई है। जिस प्रकार पृथ्वी सहनशीलता की सीमा है, इसी प्रकार नारी भी सहनशील होती है, किंतु जब उन पर अत्याचार बढ़ जाता है, तब ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार पृथ्वी

में भूकंप/भूचाल आने पर सब अस्त-व्यस्त हो जाता है, नारी भी यह सब कर सकती है, अत: हमें नारी के स्वभाव को ताड़ कर (समझ कर) उनसे व्यवहार करना चाहिए। एक बात और महत्त्वपूर्ण है जो समुद्र ने कही है। उसने पंच महाभूतों (गगन, समीर, अनल, जल और धरणी) को 'जड़' कहा है। 'जड़' का अर्थ जो व्यवहार में बुद्धि का उपयोग नहीं करे।

नारी हृदय प्रधान होती है और पुरुष बुद्धि प्रधान। इसका उदाहरण श्रीरामचरितमानस में पुष्प वाटिका प्रसंग में मिलता है, जहाँ पर प्रथम बार श्रीरामजी और सीताजी एक दूसरे का दर्शन करते हैं। सीताजी के जाने पर उनकी छवि को श्रीरामजी अपने मस्तिष्क में और सीताजी उनकी छवि को अपने हृदय में धारण करती हैं। इस संदर्भ में समुद्र ने 'जड़' शब्द का प्रयोग करके हमें सावधान किया है कि नारी 'हृदय प्रधान' होती है, अत: उसके इस स्वभाव को ताड़ कर (समझ कर) उससे वैसा ही व्यवहार करना चाहिए।

हमें प्राचीन सद्ग्रंथों ने भी यही शिक्षा दी है-'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:' अर्थात् वहीं पर देवताओं का वास होता है जहाँ नारियों का सम्मान होता है। इस प्रकार से गोस्वामी तुलसीदास ने समाज के किसी भी वर्ग या नारी जाति का किसी भी प्रकार से अपमान नहीं किया है, बल्कि उनके सम्मान के प्रति हमें सचेत किया है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त (संदर्भित) चौपाई से किसी का अनादर नहीं हुआ है। विचारणीय तथ्य है कि जिन भगवान श्रीराम ने अधम जाति की नारी शबरी के जूठे बेर खाए और निषादराज को गले से लगाया, उनके परम भक्त गोस्वामी तुलसीदासजी किसी का अपमान कैसे कर सकते हैं। लोग अपनी समझ से अर्थ का अनर्थ कर रहे हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने तो सारे जगत को सीताराममय समझ कर उनकी वंदना की है, फिर वे किसी का अपमान करने के उद्देश्य से ऐसा कैसे लिख सकते हैं। श्रीरामचरितमानस के प्रारंभ में ही उन्होंने लिखा है-

सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥ (1/8/2)

इस प्रकार संदर्भित चौपाई के द्वारा किसी का अपमान नहीं हुआ है।

तुलसी जस भवतब्यता

श्रीराम जन्म के कारणों के प्रसंग में राजा प्रतापभानु की कथा आती है। वे एक धर्मनिष्ठ और पराक्रमी राजा थे तथा वेद विधि से प्रजा पालन करते थे। उन्होंने सभी राजाओं को जीतकर चक्रवर्ती की पदवी प्राप्त की थी। एक राजा युद्ध में हारने के बाद अपने देश को न लौटकर प्रतापभानु से प्रतिशोध लेने की मंशा से जंगल में जाकर तप करने लगा। उसके मन में ईर्ष्या थी और मौके की तलाश में था। संयोगवश राजा प्रतापभानु शिकार खेलने गया और उसी के मित्र राक्षस की माया से भटकता हुआ उसी के आश्रम में पहुँच गया। इसलिए श्रीरामचरितमानस में लिखा है कि जो होनहार होनी होती है वह संयोग भी वैसा ही बना लेती है–

तुलसी जसि भवतब्यता तैसी मिलइ सहाय।
आपुनु आवइ ताहि पहिं ताहि तहाँ लै जाय॥ (1/159 ख)

परिचय पूछने पर राजा प्रतापभानु अपने को प्रतापभानु का सचिव बताते हैं और जब कपटी तपस्वी का परिचय जानना चाहा तो उन्होंने अपना नाम 'एकतनु' बताया और अर्थ पूछने पर बताया कि सृष्टि के प्रारंभ से ही वे अभी तक हैं, इस कारण उनका यह नाम है। राजा प्रतापभानु को प्रभावित करने हेतु कपटी राजा (तपस्वी वेश) ने उनका नाम बताया और पूरा विवरण सत्य-सत्य बताया, क्योंकि वह तो सब जानता था। इससे राजा प्रतापभानु को पूर्ण विश्वास हो गया कि बहुत पहुँचे हुए महात्मा हैं, अतः उसने यह वरदान मांगा–

जरा मरन दुख रहित तनु समर जितै जनि कोउ।
एकछत्र रिपुहीन महि राज कलप सत होउ॥ (1/164)

कपटी तपस्वी (राजा) ने एवमस्तु कहकर इसके लिए दो शर्तें बताईं। एक तो यह कि हम दोनों के मिलन की कहानी यदि छठवें कान में पड़ गई तो तुम्हारा नाश हो जाएगा और दूसरे यदि ब्राह्मण शाप दे दें तो तुम्हारा नाश हो सकता है। इसके अलावा तुम्हारा निधन नहीं हो सकता, चाहे विष्णु और

शंकर भी क्यों न कुपित हो जाएँ-

छठें श्रवन यह परत कहानी। नास तुम्हार सत्य मम बानी।।
यह प्रगटें अथवा द्विजश्रापा। नास तोर सुनु भानुप्रतापा।।
आन उपायँ निधन तव नाहीं। जौं हरिहर कोपहिं मन माहीं।। (1/166/2-4)

कपटी तपस्वी (राजा) को मौका मिल गया बदला लेने का, क्योंकि उसके अंदर क्रोध ऐसे सुलग रहा था, जैसे अवाँ (भट्ठी) के अंदर आग सुलगती है-

समुझि राजसुख दुखित अराती। अवाँ अनल इव सुलगइ छाती।। (1/160/7)

राजा प्रतापभानु कपटी तपस्वी की चाल नहीं समझ पाया, क्योंकि उसे लालच था अमर होने का और एकछत्र राज करने का। गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं कि कभी-कभी बाहरी आडंबर देखकर चतुर नर भी ऐसे बहकावे में आ जाते हैं-

तुलसी देखि सुबेषु भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
सुंदर केकिहि पेखु बचन सुधा सम असन अहि।। (1/161ख)

राजा प्रतापभानु को ब्राह्मणों के शाप की चिंता थी, अतः उन्होंने कपटी तपस्वी की योजना के अनुसार सौ हजार ब्राह्मणों को सकुटुम्ब निमंत्रण दिया और जब वे भोजन करने बैठे तो आकाशवाणी हुई-

बिप्रवृंद उठि उठि गृह जाहू। है बड़ि हानि अन्न जनि खाहू।।
भयउ रसोईं भूसुर माँसू। सब द्विज उठे मानि बिस्वासू।। (1/173/6-7)

तब ब्राह्मणों ने तुरन्त शाप दिया कि राजा प्रतापभानु तुम सपरिवार राक्षस हो जा तथा एक संवत के बीच में तुम्हारा कुल सहित नाश हो जाएगा। ब्राह्मणों का शाप तो कभी निष्फल जाता नहीं। राजा प्रतापभानु का संवत के मध्य ही कुल सहित नाश हो गया और वे रावण-कुंभकर्ण और विभीषण के रूप में जन्मे।

अब इस तथ्य पर विचार करना है कि राजा प्रतापभानु का नाश क्यों हुआ? यह मुख्य बिन्दु इस लेख का उद्देश्य है। कपटी तपस्वी के निम्नांकित कथन पर विचार करें-

छठें श्रवन यह परत कहानी। नास तुम्हार सत्य मम बानी।। (1/166/2)

श्रीरामचरितमानस एक ऐसा दिव्य ग्रंथ है, जिसके प्रत्येक शब्द में कुछ न

कुछ भाव छिपा रहता है। इस प्रसंग में 'कहानी' शब्द का प्रयोग है। सामान्यतया किस्से कहानी सत्य की कसौटी पर खरे नहीं उतरते अर्थात् कहानी मनगढंत हो सकती है, पर 'कथा' सत्य घटनाओं पर आधारित होती है। मानस के कुछ प्रसंगों में इसकी झलक देखने को मिलती है, यथा-

पुनि सब कथा बिभीषन कही। जेहि बिधि जनकसुता तहँ रही॥ (5/8/3)

नर बानरहिं संग कछु कैसें। कही कथा भइ संगति जैसें॥ (5/13/11)

कथा समस्त भुसुंड बखानी। जो मैं तुम्ह सन कही भवानी॥ (7/68/7)

इस संदर्भ में निम्नलिखित तथ्य उल्लेखनीय हैं-

(1) यदि राजा प्रतापभानु 'कहानी' और 'कथा' में अंतर को समझकर अपने मंत्रियों से विचार-विमर्श कर लेते तो नाश को न प्राप्त होते।

(2) राजा प्रतापभानु ने एक संत से (भले ही वह कपटी वेश में था) असत्य बोला कि वह सचिव है। यदि वह सत्य वादन करते तो इस घटना के शिकार न होते, अतः यह शिक्षा इस प्रसंग से मिलती है कि कभी भी किसी संत से असत्य भाषण नहीं करना चाहिए। वैसे असत्य तो कभी नहीं बोलना चाहिए। मानस में स्पष्ट लिखा है कि इसके समान कोई पाप नहीं है-

नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥ (2/28/5)

(3) राजा प्रतापभानु को लालसा थी एकछत्र निष्कंटक राज करने की। यदि यह लालसा न होती तो उसका नाश न होता। यदि वे ज्ञान-भक्ति-वैराग्य का वरदान माँगते तो स्थिति कुछ और ही होती। इस प्रसंग से यह शिक्षा मिलती है कि हम जब कभी किसी संत के पास जाएँ तो सांसारिक वैभव न माँगें। भक्ति-ज्ञान-वैराग्य ही माँगें। यदि यह मिल गया और मन में कभी कुछ लालसा रह भी जाए भोग विलास की, तो भगवान यह भी पूरी करते हैं। विभीषण शरणागति के समय का यह प्रसंग उल्लेखनीय है-

सुनहु देव सचराचर स्वामी। प्रनतपाल उर अंतरजामी॥
उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥

अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी॥
एवमस्तु कह प्रभु रनधीरा। मागा तुरत सिंधु कर नीरा॥
जदपि सखा तब इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघ जग माहीं॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन बृष्टि नभ भई अपारा॥ (5/49/5-10)

(4) राजा प्रतापभानु ने अपने स्वार्थवश ब्राह्मणों को वश में करने की योजना बनाई थी। उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए था। ब्राह्मणों को वश में करने की बजाय, उन्हें उनके कोप से बचने के उपाय सोचने चाहिए थे। वे इस पर अपने मंत्रिमंडल में भी विचार कर सकते थे, अतः इस प्रसंग से यह भी शिक्षा मिलती है कि कभी किसी के वशीकरण के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। ऐसा करना अंततः अहितकारी ही सिद्ध होता है।

(5) राजा प्रतापभानु के कर्म बड़े अच्छे थे। श्रीरामचरितमानस में इनका वर्णन इस प्रकार से है-

गुर सुर संत पितर महिदेवा। करइ सदा नृप सब कै सेवा॥
भूप धरम जे बेद बखाने। सकल करइ सादर सुख माने॥
दिन प्रति देइ बिबिध बिधि दाना। सुनइ सास्त्र बर बेद पुराना॥
नाना बापीं कूप तड़ागा। सुमन बाटिका सुंदर बागा॥
बिप्र भवन सुरभवन सुहाए। सब तीरथन्ह बिचित्र बनाए॥ (1/154/4-8)

यद्यपि राजा प्रतापभानु का कुटुम्ब सहित नाश हो गया, पर अगले जन्म में शापवश राक्षस होते हुए भी अखिल ब्राह्माण्ड नायक भगवान श्रीराम के हाथों मरण पाकर अपना ही नहीं, पूरे कुटुंब का उद्धार कर लिया, अतः यह सदा विश्वास रखना चाहिए कि सत्कर्म कभी निष्फल नहीं जाते और दुष्कर्मों का फल भी भोगना ही पड़ता है। कभी-कभी भवतब्यतावश यदि भूल भी हो जाए, फिर भी सत्कर्मों के प्रभाव से अंततः कल्याण ही होता है, जैसा प्रतापभानु का हुआ।

सारांश यह है कि सदैव सत्कर्म में संलग्न रहना चाहिए और किसी आडंबर में नहीं फँसना चाहिए।

तुलसी जन्मभूमि

महाकवि भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित महाकाव्य श्रीरामचरितमानस (मानस) एक दिव्य ग्रंथ है। साधु-संत, विचारक, शोधकर्ता इसमें वर्णित गूढ़ तत्वों की थाह अभी तक नहीं पा सके हैं। जितनी बार इसका अध्ययन किया जाए, उतनी ही बार नए-नए भाव उत्पन्न होते हैं। वास्तव में यह ग्रंथ शिवजी की कृपा से लिखा गया है। इसका 'मानस' में स्पष्ट उल्लेख है यथा-

भनिति मोरि सिव कृपाँ बिभाती। (1/15/9)

प्रारंभ में तुलसीदासजी ने लिखा है कि न तो मैं कोई कवि हूँ और न ही विद्वान कहलाने के लिए यह ग्रंथ लिख रहा हूँ, मैं तो 'स्वान्तः सुखाय' अपनी बुद्धि के अनुसार श्रीराम का गुणगान करना चाहता हूँ।

स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा-भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति॥ (1/वंदना/7)

कबि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ॥ (1/12/9)

तत्पश्चात् वंदना लिखते-लिखते ही वे कहते हैं-

संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी॥ (1/36/1)

आज के अधिकांश कवि-लेखक जब भी कोई ग्रंथ लिखते हैं तब सबसे पहले यह विचार करते हैं कि अपना जीवनवृत्त कितने आकर्षक ढंग से लिखा जाए ताकि पाठकगण उनकी विद्ववत्ता से परिचित हो जाएँ, पर तुलसीदासजी ने 'मानस' के अलावा गीतावली, कवितावली आदि ग्रंथ लिखने के बाद भी कहीं भी अपना जीवनवृत्त नहीं लिखा है। केवल संकेतमात्र से उनकी माँ 'हुलसी' का उल्लेख मिलता है। प्राचीन उपलब्ध अभिलेखों के अनुसार तथा कुछ अवशेष इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि उनका जन्म राजापुर, जिला बांदा उत्तर प्रदेश में हुआ था। ऐसा ही विवरण गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित 'श्रीरामचरितमानस' में है। गीताप्रेस वालों ने सर्वप्रथम विभिन्न स्रोतों से

उपलब्ध सामग्री के अनुसार 'कल्याण' का तेरहवाँ वार्षिक विशेषांक मानसाङ्क (आज से 88 वर्ष पहले) निकाला था। पाठकों के विशेष अनुरोध पर इसे एक पुस्तक के रूप में निकाला गया जिसकी सभी प्रतियाँ तुरंत बिक गईं। इसकी लोकप्रियता को देखते हुए मूल गुटका, मझला, बड़ा साइज एवं बृहदाकार, मूल तथा अर्थ सहित कई संस्करण प्रकाशित हुए। केवल 'मूल' गुटका की ही संवत् 2081 (सन् 2024-25) तक के संस्करण सहित कुल 1,17,20,000 प्रतियाँ मुद्रित हो चुकी हैं। इसके साथ-साथ अन्य प्रेस वालों ने भी इसकी प्रतियाँ भारी संख्या में प्रकाशित की हैं, किंतु मेरे विचार से ग्रीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित श्रीरामचरितमानस ही प्रमाणित प्रति है। कुछ विद्वान इसमें भी त्रुटियाँ देखते हैं, पर अधिकांश संत समाज इसमें कोई त्रुटि नहीं देखता। व्यवहार में इस ग्रंथ का एक-एक शब्द मंत्रवत् फलीभूत हो रहा है। यह मेरा स्वयं का अनुभव है।

श्रीरामचरितमानस की इस ख्याति से तुलसी जन्मभूमि विवाद का विषय बन गई है, क्योंकि इसके विकास हेतु सरकार से अनुदान प्राप्त होता है। इस परिप्रेक्ष्य में मेरे विचार निम्नांकित हैं-

1. स्वयं तुलसीदासजी ने अपने किसी भी ग्रंथ में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अथवा अलग से अपनी जन्मभूमि के विषय में कुछ नहीं लिखा है, अतः इस पर विवाद खड़ा करना उन संत का अपमान करना है। होना यह चाहिए कि उनकी जन्मभूमि के संबंध में सर्वप्रथम राजापुर, जिला बांदा (उत्तर प्रदेश) के विषय में जानकारी मिली थी, उसी को प्रमाणित माना जाए। इस संबंध में राजापुर (सूकरखेत), गोण्डा (उत्तर प्रदेश) को उनकी जन्मभूमि सिद्ध किया जा रहा है। बड़े-बड़े विद्वान, शोधकर्ता इसमें संलग्न हुए और उन्होंने तो अपनी तरफ से यह निर्णय भी ले लिया है कि गोण्डा में स्थित राजापुर ही तुलसीदासजी की असली जन्मभूमि है। उनका मुख्य तर्क मानस में लिखे इस दोहे से है-

   मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत।
   समझी नहिं तसि बालपन तब अति रहउँ अचेत॥ (1/30क)

   इस परिप्रेक्ष्य में श्रीरामचरितमानस सत्संग समिति (पंजीकृत), नोएडा

(उत्तर प्रदेश) द्वारा प्रकाशित डॉ. राजाराम त्रिपाठी द्वारा लिखित 'बात से ही ज्ञान भक्ति का प्रभात' पुस्तक का निम्नांकित प्रसंग (पृष्ठ 19 एवं 20) उल्लेखनीय है-

विक्रम संवत् 1561 भाद्र कृष्ण तृतीया रविवार को स्वामी नरहरिदास यमुना किनारे बसे राजापुर (जिला बाँदा) में पधारे थे। उस समय रामबोला (तुलसीदास) अनाथ थे। उनकी आयु उस समय लगभग सात वर्ष की थी। संत को स्थान पसंद आया और चातुर्मास वहीं पर व्यतीत करने का निर्णय लिया। कथा-प्रवचन हेतु उत्तम स्थान न मिलने पर खटवारा का पश्चिमी तट ही चयनित हुआ, पर वह स्थान सूकरों के मल-मूत्र से नर्क बना हुआ था। दूसरा उससे अच्छा फैलावदार स्थान न मिलने के कारण इसी स्थान की सफाई कराके कथा प्रारंभ हुई। यही कारण है कि तुलसीदासजी ने लिखा है कि उन्होंने सूकर क्षेत्र में कथा सुनी और यह भी स्पष्ट लिखा कि तब मेरा बालपन था, मैं अचेत था।

2. यह सर्वविदित तथ्य है कि बचपन में सीखी भाषा अर्थात् मातृभाषा का प्रभाव हमेशा रहता है। तुलसीदासजी का जन्म राजापुर, जिला बाँदा (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। यह बुंदेलखण्ड क्षेत्र है। यद्यपि तुलसीदासजी ने अयोध्या में रहकर श्रीरामचरितमानस की रचना की और इसी कारण अवधी भाषा का प्रयोग किया है, किंतु विभिन्न प्रसंगों में बुंदेली भाषा के शब्दों का प्रयोग किया है। मानस के अनुसार-

अवधपुरीं यह चरित प्रकासा। (1/34/5)

उदाहरण के लिए सातों काण्ड से एक-एक चौपाई में, निम्नांकित कुछ प्रसंगों में बुंदेली भाषा के शब्दों के प्रयोग को रेखांकित किया गया है-

जौं लरिका कुछ अचगरि करहीं। गुर पितु मातु मोद मन भरहीं।। (1/277/3)
नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी। छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी।। (2/46/6)
लै दुच्छिन दिसि गयउ गोसाईं। बिलपति अति कुररी की नाईं।। (3/31/3)
आजु सबहिं कहँ भच्छन करऊँ। दिन बहु चले अहार बिनु मरऊँ।। (4/27/3)
निबुकि चढ़ेउ कपि कनक अटारीं। भईं सभीत निसाचर नारीं।। (5/25/9)

बाजहि ढोल निसान जुझाऊ। सुनि सुनि होइ भटन्हि मन चाऊ॥ (6/41/2)

ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥ (7/38/7)

3. तुलसीदासजी के समय की ही हस्त लिखित श्रीरामचरितमानस की एक प्रति उनकी जन्म स्थली राजापुर (जिला बाँदा) में उनके पूर्वजों दुबे परिवार के पास थी। कहते हैं कि इस ग्रंथ की लोकप्रियता को देखते हुए चोरों ने वह प्रति चुरा ली। जब यह पता चला तो लोग चोरों के पीछे दौड़े। उन्होंने भयवश उसे यमुना नदी में फेंक दिया। गोताखोरों की मदद से ग्रंथ जिस पोटली में बाँधकर रखा था, वह प्राप्त हो गई, पर केवल बीच का अयोध्याकाण्ड ही बचा, शेष ग्रंथ गल गया था। वह अयोध्याकाण्ड आज भी राजापुर में सुरक्षित रखा है। इस पर शहंशाह अकबर का प्रमाण पत्र भी अंकित है। इससे इस पाण्डुलिपि की समकालीनता स्पष्ट होती है।

4. इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि काशी में सभी विद्वानों के समझ 'श्रीरामचरितमानस' की विशिष्टता स्वयं विश्वनाथ के मंदिर में शिवजी ने 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' लिखकर प्रमाणित की। लोगों की यह धारणा है कि इस दिव्य ग्रंथ के लेखन में बालकाण्ड के दोहा क्रमांक की दूसरी अर्धाली स्वयं शिवजी ने लिख दी थी, यथा-

संकर चापु जहाजु सागरु रघुबर बाहुबलु।
बूड़ सो सकल समाजु चढ़ा जो प्रथमहिं मोह बस॥ (1/261)

तुलसीदासजी की जन्मभूमि के संबंध में उपर्युक्त पृष्ठभूमि में निम्नांकित प्रसंग उल्लेखनीय है-

वनवास की प्रारंभिक अवधि में जब श्रीराम-लक्ष्मण-सीता यमुना पार करके राजापुर (तुलसी जन्मभूमि) में पधारे तब तुलसीदासजी की लेखनी रुक गई। वे भाव विभोर हो गए और सोचने लगे कि यदि मैं उस समय होता तो उनके दर्शन कर लेता। जब वे भावातीत स्थिति से जागे, तब उन्हें निम्नांकित चौपाइयाँ-दोहा लिखा मिला-

तेहि अवसर एक तापसु आवा। तेज पुंज लघुबयस सुहावा॥
कबि अलखित गति बेषु बिरागी। मन क्रम बचन राम अनुरागी॥ (2/110/7-8)

सजल नयन तन पुलकि निज इष्टदेउ पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनितल दसा न जाइ बखानि॥ (2/110)

पिअत नयन पुट रूपु पियूषा। मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा॥ (2/111/6)

इस प्रसंग के पहले और बाद की चौपाइयाँ इस प्रकार हैं-

सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं। रानी रायँ कीन्ह भल नाहीं॥ (2/110/6)

ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥ (2/111/7)

रामचरितमानस का उपर्युक्त प्रसंग 'तुलसी जन्मभूमि' राजापुर, जिला बाँदा (उ0प्र0) में यमुना किनारे पर है, प्रमाणित करता है। फिर भी कुछ लोग भ्रम फैलाकर अन्यत्र 'तुलसी जन्मभूमि' होने का दावा कर रहे हैं। मेरी उन सभी से यह विनती है कि जितना समय-साधन-द्रव्य इस तथ्य की पुष्टि में लगा रहे हैं उससे आधा भी यदि 'श्रीरामचरितमानस' में छिपे बहुमूल्य रत्न खोजने में लगाएँ तो उनका तथा समाज के लोगों का जीवन धन्य हो जाएगा। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥ (7/127)

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा

सीताजी की खोज के लिए जब सभी वानर-भालू जाने लगे तब सबसे बाद में पवनपुत्र हनुमानजी ने श्रीराम को प्रणाम किया। श्रीराम ने उन्हें पास बुलाकर पहचान के लिए अपनी अँगूठी देते हुए कहा-

बहु प्रकार सीतहि समुझाएहु। कहि बल बिरह बेगु तुम्ह आवहु॥ (4/23/11)

श्रीराम ने अपना समझकर हनुमानजी से वह बात कही जो केवल अपने निकटतम से की जाती है। इस बात का स्मरण करके ही हनुमानजी ने लंका जाकर अशोक वृक्ष के नीचे श्रीराम के ध्यान में लीन सीताजी को श्रीराम के विरह की बात इस प्रकार से कही-

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥
सो मनु सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रस एतनेहि माँहीं॥ (5/15/6-7)

इस संदेश को सुनकर सीताजी प्रेम में इतनी मग्न हो जाती हैं कि उनको अपनी देह की सुधि नहीं रही, यथा-

प्रभु संदेसु सुनत बैदेही। मगन प्रेम तन सुधि नहिं तेही॥ (5/15/8)

विरह की बात तब होती है जब कोई एक-दूसरे से अलग हो। यह तो प्रभु की लीला है, हम सभी को यह आदर्श दिखाने की कि दाम्पत्य प्रेम इतना प्रगाढ़ होना चाहिए कि दोनों के मन मिलकर एक हो जाएँ। वैसे प्रभु श्रीराम और सीताजी कहने में, देखने-सुनने में और लीला की दृष्टि से दो हैं, पर वास्तविकता यह है कि वे दोनों एक हैं। इस संबंध में गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं-

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीताराम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥ (1/18)

अब विचार करना है कि श्रीराम और सीताजी का प्रेम उनके प्रथम दर्शन में ही कितना विशद एवं प्रगाढ़ था। इसकी झलक पुष्प-वाटिका में देखने को

मिलती है जब सीताजी गौरी-पूजन को आती हैं और श्रीराम-लक्ष्मण वहाँ पुष्प लेने जाते हैं। सीताजी को देखकर श्रीरामजी भाई लक्ष्मण से कहते हैं-

तात जनकतनया यह सोई। धनुषजग्य जेहि कारन होई॥ (1/231/1)

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥ (1/231/3)

सो सबु कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥ (1/231/4)

निश्चल भाव से श्रीरामजी भाई लक्ष्मण से बात कर रहे थे कि इस बीच सीताजी ने उनको देखा और नारदजी के वचनों को याद करके कि गौरी-पूजन के समय जिन राजकुमार के तुम्हे दर्शन होंगे वही तुम्हारे पति होंगे, उनका विशुद्ध प्रेम श्रीरामजी के प्रति उमड़ पड़ा और वे उनका दर्शन करके आँख बंद कर लेती हैं। उसी समय एक सखी कहती है-

बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूप किसोर देखि किन लेहू॥ (1/234/2)

और तब-

सकुचि सीयँ तब नयन उघारे। सनमुख दोउ रघुसिंघ निहारे॥
नख सिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा॥ (1/234/3-4)

इस प्रकार एक दूसरे का दर्शन करने के पश्चात् जब जाने लगे तब श्रीरामजी ने उनकी मूर्ति को अपने चित्त में रख लिया और सीताजी ने अपने हृदय में श्यामली छवि उतार ली, क्योंकि पुरुष चित्त प्रधान और स्त्री स्वभाव से हृदय प्रधान होती है, मानस के अनुसार-

जानि कठिन सिवचाप बिसूरति। चली राखि उर स्यामल मूरति॥
प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी॥
परम प्रेममय मृदु मसि कीन्हीं। चारु चित्त भीतीं लिखि लीन्हीं॥ (1/235/1-3)

इस प्रकार से प्रथम दर्शन में प्रेम तत्व पूर्ण रूपेण उभरकर आ गया और सदैव ऐसा ही रहा। यही कारण है कि वनवास के समय सीताजी विचार करती हैं-

चलन चहत बन जीवन नाथू। केहि सुकृति सन होइहहि साथू॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना। बिधि करतब कछु जात न जाना॥ (2/58/3-4)

श्रीरामजी के समझाने पर वे कहती हैं-

छिनु छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी॥ (2/66/4)

को प्रभु सँग मोहि चितवनि हारा। सिंघबधुहि जिमि ससक सिआरा॥ (2/67/7)

उन्होंने श्रीरामजी को विश्वास दिलाया था कि वे वन में उनके साथ 'मुदित' रहेंगी। उन्होंने इस विश्वास को इससे बढ़कर निभाया। वे वन में 'मुदित' ही नहीं, बल्कि 'प्रमुदित' रहीं, मानस के अनुसार-

राम संग सिय रहति सुखारी। पुर परिजन गृह सुरति बिसारी॥
छिनु छिनु पिय बिधु बदनु निहारी। प्रमुदित मनहुँ चकोर कुमारी॥ (2/140/1-2)

यह है सीताजी का प्रेम और श्रीरामजी का प्रेम सीता-हरण के पश्चात, विरह-लीला में इस प्रकार वर्णन किया गया है-

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी। तुम देखी सीता मृगनैनी॥ (3/30/9)

लक्ष्मणजी के बहुत समझाने पर भी उनकी विरह पीड़ा कम नहीं हुई, बल्कि बढ़ गई, क्योंकि अभी तो खग-मृग से सीता का पता पूछ रहे थे, लक्ष्मणजी के समझाने पर लताओं से पूछने लगे-

लछिमन समुझाए बहु भाँती। पूछत चले लता तरु पाँती॥ (3/30/8)

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने समाज के समक्ष एक आदर्श पति-पत्नी की लीला की, जिससे समाज में दाम्पत्य जीवन सुखमय रहे। प्रेम और विश्वास रूपी दो पहियों से ही दाम्पत्य जीवन की गाड़ी चल सकती है और यह तभी संभव है जब एक-दूसरे का मन मिलकर दो न रहकर एक हो जाए। इसीलिए प्रभु श्रीराम ने प्रेम की पराकाष्ठा बताते हुए विरह वेदना में यही संदेश भेजा-

तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मनु मोरा॥ (5/15/6)

दृढ़ विश्वास की परम आवश्यकता

श्रीकाकभुशुण्डिजी श्रीरामचरित वर्णन करने के पश्चात् अपने मोह-भंग का वृत्तांत बताते हुए गरुड़जी से कहते हैं कि बिना संतोष के कामनाओं का अंत नहीं होता है और कामनाओं के रहते सुख स्वप्न में नहीं मिल सकता है। इसी क्रम में वे श्रद्धा-विश्वास के संबंध में लिखते हैं-

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। बिनु महि गंध कि पावइ कोई॥ (7/90/4)

कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरि भजन न भव भय नासा॥ (7/90/8)

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रबहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥ (7/90क)

श्रीरामचरितमानस के प्रारंभ में ही श्रद्धा-विश्वास के रूप में भवानी शंकर की वंदना की गई है, क्योंकि इसके बिना सिद्ध पुरुष भी अपने अन्दर स्थित ईश्वर का दर्शन नहीं कर सकते हैं, फिर जन-सामान्य का तो सामर्थ्य ही क्या? यथा-

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाःस्वांतःस्थमीश्वरम्॥ (1/वंदना प्रकरण)

दृढ़ विश्वास का एक अनूठा उदाहरण स्वयं श्रीपार्वतीजी के जीवन से मिलता है। शिव-पार्वती विवाह के पूर्व सप्त ऋषि पार्वतीजी के शिव-प्रेम की परीक्षा लेने जाते हैं। वे पार्वतीजी से पूछते हैं कि आप किस उद्देश्य से किसकी आराधना कर रही हैं। इसका उत्तर वे इस प्रकार से देती हैं-

नारद कहा सत्य सोइ जाना। बिनु पंखन्ह हम चहहिं उड़ाना॥
देखहु मुनि अबिबेकु हमारा। चाहिअ सदा सिवहि भरतारा॥ (1/78/6-7)

इसे सुनकर सप्त ऋषि उनके गुरु नारदजी की बुराई करते हुए कहते हैं कि जो लोग नारदजी के उपदेशों पर चलते हैं वे घर-बार से हाथ धोकर भिखारी बन जाते हैं। उनके वचनों पर विश्वास करके सहज ही उदासीन शिव

को तुम वरण करना चाहती हो, यथा-

नारद सिख जे सुनहिं नर नारी। अवसि होहिं तजि भवनु भिखारी॥
मन कपटी तन सज्जन चीन्हा। आपु सरिस सबही चह कीन्हा॥
तेहि कें बचन मानि बिस्वासा। तुम्ह चाहहु पति सहज उदासा॥ (1/79/3-5)

नारदजी की निन्दा करने के साथ-साथ वे भगवान शिव की भी निंदा करते हुए इस प्रकार से कहते हैं-

निर्गुन निलज कुबेष कपाली। अकुल अगेह दिगंबर ब्याली॥
कहहु कवन सुख अस बरु पाएँ। भल भूलिहु ठग के बौराएँ॥
पंच कहें सिवँ सती बिबाही। पुनि अवडेरि मराएन्हि ताही॥ (1/79/6-8)

इसके बाद सप्त ऋषि सलाह देते हैं कि अब भी समय है। हमारा कहना मान लो, तुम्हारे लिए योग्य वर हम बताते हैं। सभी दोषों से रहित वैकुंठ निवासी श्री विष्णु से हम तुम्हारा विवाह करा सकते हैं। यह सुनने के बाद पार्वतीजी कितनी दृढ़ता एवं विश्वास पूर्वक उत्तर देती हैं, यह मनन करने योग्य तथा अत्यन्त अनुकरणीय है। पार्वतीजी कहती हैं कि यदि आप पहले मिलते तो मैं आपकी शिक्षा को सुनती, किंतु अब तो नारदजी के वचनों पर विश्वास करके मैंने शिवजी को अपना लिया है। अब गुण-दोषों पर विचार नहीं किया जा सकता है। एक जन्म नहीं, करोड़ों जन्मों तक के लिए मेरा संकल्प है कि विवाह होगा तो शिवजी के साथ, अन्यथा कुंवारी ही रहूँगी। इस पर सप्त ऋषि कहते हैं कि यदि शंकरजी मना कर दें, तब क्या करोगी? इसका उत्तर देते हुए पार्वतीजी कहती हैं कि एक बार की तो बात क्या, यदि सौ बार भी शिवजी मना कर दें, तब भी मैं नारदजी के उपदेश के अनुसार उन्हीं से विवाह करूँगी, क्योंकि जिन्हें गुरु के वचनों पर विश्वास नहीं है, उन्हें स्वप्न में भी सुख तथा सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है। मानस में इसका वर्णन इस प्रकार से है-

जौं तुम्ह मिलतेहु प्रथम मुनीसा। सुनतिउँ सिख तुम्हारि धरि सीसा॥
अब मैं जन्मु संभु हित हारा। को गुन दूषन करै बिचारा॥ (1/81/1-2)
जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरउँ संभु न त रहउँ कुआरी॥ (1/81/5)
तजउँ न नारद कर उपदेसू। आप कहहिं सत बार महेसू॥ (1/81/6)

गुर कें बचन प्रतीति न जेही। सपनेहुँ सुगम न सुख सिधि तेही।। (1/80/8)

जब तक हमारे मन में ईश्वर के प्रति इतना दृढ़ विश्वास नहीं होगा, तब तक हम कोई सफलता प्राप्त नहीं कर सकते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने भी श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन को यही समझाया है कि जो शंका करता है, वह ठीक उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे कि वायु वेग से बादल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, यथा-**''संशयात्मा विनश्यति।''**

परमात्मा चर-अचर, जड़-चेतन सभी में सर्वत्र समान रूप से कण-कण में व्याप्त हैं। अतः दृढ़ विश्वास के साथ सद्भावना करने से वह निश्चित रूप से फलित होती है और इसी प्रकार दुर्भावना कष्टदायक सिद्ध होती है। इस संदर्भ में निम्नांकित दृष्टांत उल्लेखनीय है-

एक बार एक राहगीर धूप-थकान से पीड़ित एक वृक्ष की छाया में विश्राम करने लगा। संयोगवश वह कल्पवृक्ष था। मान्यता है कि कल्पवृक्ष के नीचे बैठकर जो भाव या विचार आए, जो मनोकामना हो, वह तुरन्त पूर्ण होती है। उस राहगीर ने विचार किया, काश! यहाँ मुझे स्वादिष्ट भोजन व शीतल जल मिल जाता तो मैं अपनी भूख-प्यास मिटा लेता। विचार करने की देर थी कि तुरन्त वांछित पदार्थ प्रकट हो गए। अब उसने सोचा-काश! एक गद्देदार पलंग होता तो मैं सुखपूर्वक विश्राम कर लेता। पलभर में ही यह सुविधा भी उपलब्ध हो गई। अब वह विचार करने लगा कि जंगल का मामला है, कहीं शेर आ जाएगा तो मुझे खा सकता है। ऐसी कल्पना करते ही शेर आया और उस राहगीर को चट कर गया। यह वास्तविकता है कि इस संसार में हम सब जगह एक कल्पवृक्ष के नीचे ही बैठे हैं। दृढ़तापूर्वक विश्वास के साथ जैसा सोचेंगे, वैसे निश्चित रूप से बन जाएँगे। इसमें कोई संदेह नहीं है। श्रीरामचरितमानस में भगवान भक्तों के लिए कल्पवृक्ष के समान हैं, ऐसा वर्णन उत्तरकाण्ड में आया है-

भगत कलपतरु प्रनत हित कृपा सिंधु सुख धाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया कर राम।। (7/84ख)

इस परिप्रेक्ष्य में एक और दृष्टांत उल्लेखनीय है-रेखागणित के जानकार यह समझ सकते हैं कि प्रमेय सिद्ध करने के लिए पहले कुछ कल्पना करनी

पड़ती है, जिसे बाद में सही सिद्ध कर दिया जाता है। अगर कोई कहे कि हमें कल्पना नहीं करनी है तो फिर वह प्रमेय सिद्ध नहीं कर सकता है। इसी प्रकार से हमें पहले दृढ़ श्रद्धा-विश्वास पूर्वक यह मानना होगा कि सर्वशक्तिमान ईश्वर सर्वत्र समरूप से व्याप्त हैं और उनके सिवा मेरा सच्चा हितकारी इस दुनिया में और कोई नहीं है। इस तथ्य को हम कुछ समय बाद अपने अन्दर सिद्ध कर लेंगे। वास्तव में ईश्वर मन, बुद्धि से परे हैं, अतः उन्हें हम केवल अंतरात्मा में अनुभव कर सकते हैं, इसका वाणी से वर्णन नहीं हो सकता है, क्योंकि वह वाणी से परे हैं। इस प्रकरण में पुष्प-वाटिका का एक प्रसंग उद्धरण योग्य है-जब एक सखी श्रीराम-लक्ष्मण का दर्शन करने के पश्चात् उनकी छवि का वर्णन करने में सीताजी से अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहती है-

स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥ (1/229/2)

इस प्रकार से हम सभी देहधाारी जीवों का यह परम कर्तव्य है कि इस तथ्य पर विचार करें कि हम जगत में किस लिए आए? इस संदर्भ में एक भक्त ने लिखा है-

आया है किस काम से विचार कर ले। बिगड़ी हुई का सुधार कर ले।

विषय भोग तो पशु-पक्षी आदि अन्य योनियों में भी संभव है। मनुष्य योनि बड़े भाग्य से प्राप्त होती है। इसमें ही आत्म-कल्याण कर पाना संभव है। अन्य सभी योनियाँ केवल भोग योनियाँ हैं, अतः अब और समय नष्ट न करते हुए आत्म-कल्याण के कार्य में जुट जाना चाहिए। इसके लिए श्रद्धा-विश्वास की परम आवश्यकता है। श्रद्धा विश्वास की नींव पर ही सफलता का महल टिक सकता है। उत्तरकाण्ड में कलियुग का वर्णन करते हुए दृढ़ विश्वास की परम आवश्यकता का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं-

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥ (7/103क)

नट मरकट इव सबहि नचावत

श्रीराम अखिल ब्रह्माण्डनायक निर्गुण ब्रह्म का सगुण स्वरूप हैं। उनकी परम शक्ति माया सभी को नचाती है। वह माया प्रभु प्रेरित और उन्हीं की शक्ति से कार्य करती है, यथा–

'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें'। (3/15/6)

हनुमानजी ने श्रीरामजी से सुग्रीव की मित्रता करा दी। तत्पश्चात् श्रीरामजी को सुग्रीव ने अपनी व्यथा बताई। उन्होंने भरोसा दिलाया कि वे बालि का वध करके उनको राज्य एवं पत्नी रोमा को वापिस दिलाएँगे। इसके बाद वैराग्य पूर्ण भाषा में सुग्रीव कहते हैं कि प्रभु अब ऐसी कृपा करें कि सब छोड़ आपका भजन करूँ। श्रीरामजी विहँसकर कहते हैं कि जो कुछ तुमने कहा वही सत्य है। यह कथा सुनाते हुए गरुड़जी से काकभुशुण्डिजी कहते हैं कि सुग्रीव अभी वैराग्यपूर्ण बातें कर रहे हैं, राजपाट और पत्नी को पाकर श्रीराम काज भी भूल जाएँगे। यह सब माया का खेल है। माया ही जीव को ऐसे नचाती है जैसे मदारी बंदर को नचाता है।

नट मरकट इव सबहि नचावत। रामु खगेस बेद अस गावत।। (4/7/24)

अब प्रश्न यह उठता है कि जब राम नचाते हैं और हम नाचते हैं तब हमारे पुरुषार्थ का क्या महत्त्व है। ये दोनों तथ्य अपनी–अपनी जगह सही हैं, पर मतिभ्रम के कारण संदेह हो जाता है। यह तो स्पष्ट है कि–

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा। (2/219/4)

अतः कर्म की प्रधानता तो है, किंतु उससे ऊपर उठकर यह तथ्य भी है–

राम कीन्ह चाहिहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई।। (1/128/1)

उपर्युक्त दोनों तथ्य विरोधाभासपूर्ण लग रहे हैं, पर हैं नहीं। इसे इस तरह कहा जा सकता है कि कर्म की प्रधानता से प्रेरित होनहार को भी टालने की शक्ति प्रभु कृपा में हैं। प्रभु गुणानुवाद में तो विधाता के लिखे अंक मेटने तक

की शक्ति है–

जग मंगल गुनग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के॥ (1/32/2)

मंत्र महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के॥ (1/32/9)

आशय यह है कि यदि अपनी इच्छा के अनुसार कार्य हो जाए तो प्रसन्नता की बात है और यदि न हो तो भी उसे हरि इच्छा मानकर प्रसन्न रहना चाहिए, क्योंकि वह हरि इच्छा होगी, जिसका परिणाम कल्याणकारी ही होगा। अब मानस में अवलोकन करें कि माया ने किसको कब नचाया और उसका क्या परिणाम हुआ–

1. सर्वप्रथम मानस में सती–मोह प्रसंग आता है। कुंभज ऋषि के आश्रम से लौटते हुए विरह–लीला करते श्रीरामजी के दर्शन शिव और सती को हुए। इस लीला को देखने के बाद सती के मन में संदेह हो गया, क्योंकि उन्होंने रामकथा मन लगाकर नहीं सुनी थी। बहुत समझाने पर भी सती नहीं मानी और उन्होंने सीता का वेश बनाकर श्रीराम की परीक्षा ली। शिव के पूछने पर कहा–

कछु न परीछा लीन्हि गोसाईं। कीन्ह प्रनामु तुम्हारिहि नाईं॥ (1/56/2)

इस पर शिवजी को विश्वास नहीं हुआ और तब उन्होंने ध्यान लगाकर देखा–

तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सतीं जो कीन्ह चरित सबु जाना॥
बहुरि राममायहि सिर नावा। प्रेरि सतिहि जेहिं झूँठ कहावा॥ (1/56/4–5)

इस प्रकार श्रीराम की माया की प्रेरणा से यह सब हुआ, पर परिणाम सुखद रहा, क्योंकि सती शरीर त्याग कर पार्वती रूप में उन्होंने पूर्ण विश्वास के साथ मन लगा कर श्रीराम कथा सुनी।

2. जब नारदजी को काम–विजय का अभिमान हो गया तब भगवान सोचते हैं–

करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गरब तरु भारी॥
बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी। पन हमार सेवक हितकारी॥ (1/129/4–5)

उस समय माया नगरी में प्रवेश करते ही नारदजी विश्वमोहिनी से विवाह

के लिए तत्पर हो गए। यह प्रभु की प्रेरणा से हुआ, पर इसका भी परिणाम सुखद रहा, क्योंकि नारदजी के शाप को अंगीकार करके भगवान ने नर रूप धारण कर असंख्य जीवों को कृतार्थ किया।

3. राम राज्याभिषेक के समय रानी कैकेई की दासी मंथरा की बुद्धि सरस्वतीजी की प्रेरणा से मायावश भ्रमित हुई और उसने कैकेई के मन में भ्रम पैदा कर दिया, जिससे राम वनवास को गए। इसका परिणाम लोकहित में रहा, क्योंकि रावण-कुंभकर्ण आदि का वध तभी संभव हुआ, जब राम-लक्ष्मण-सीता वन को गए।

इस प्रकार अनेक प्रसंग मानस में वर्णित हैं, जिससे यह स्पष्ट है कि श्रीरामजी की माया जीव को कठपुतली की तरह नचाती है। इससे बचने का एक ही उपाय है कि माया जिससे डरती हो उसकी शरण में चलें। भगवद् भक्ति से माया डरती है, अतः भक्ति को अपनाने से माया का भय नहीं रहता। काकभुशुण्डिजी गरुड़जी को समझाते हुए कहते हैं-

इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ। बेद पुरान संत मत भाषउँ॥
मोह न नारि नारि कें रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा॥
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारि बर्ग जानइ सब कोऊ॥ (7/116/1-3)

राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥ (7/116/6-7)

इससे यह स्पष्ट है कि भक्ति पथ अपनाना ही कल्याणकारी है। नवधा भक्ति में से कोई भी एक भक्ति अपनाने पर भगवत्प्राप्ति संभव है। भगवान ने भक्तिमती शबरी से स्वयं कहा-

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥ (3/36/6-7)

सबसे सरल सुगम प्रथम एवं द्वितीय भक्ति हैं-सत्संग और हरि कथा-

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥ (3/35/8)

भक्तिभाव हो जाने पर निश्चिन्तता आ जाती है, क्योंकि फिर योग-क्षेम का भार भगवान पर रहता है। वे स्वयं कहते हैं-

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ (3/43/8)

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥ (3/43/5)

जब जीव पूर्ण समर्पण के साथ भगवान का हो जाता है और उस पर ईश्वर की कृपा हो जाती है तब फिर उसे माया नहीं नचा पाती। यह स्थिति काकभुशुण्डिजी को प्राप्त हो गई थी। उनसे भगवान श्रीराम कहते हैं-

माया संभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहिं तोहि।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि॥ (7/85क)

इस प्रकार से जब हमारा मन भगवान के नाम-रूप-लीला-धाम में लग जाए, तो फिर हमें उस माया से कोई भय नहीं रहेगा जो सामान्य जीवों की तो क्या, शिव-ब्रह्मा को भी नचाती है, यथा-

सिव बिरंचि कहुँ मोहइ को है बपुरा आन।
अस जियँ जानि भजहिं मुनि माया पति भगवान॥ (7/62ख)

पूजिअ बिप्र सील गुन हीना

गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा ईश्वरीय प्रेरणा से लिखित श्रीरामचरितमानस सम्पूर्ण मानव समाज के लिए पथ-प्रदर्शक के रूप में मान्य है, किंतु वर्तमान समय में कुछ लोग कुछ चौपाइयों का सही संदर्भ न समझ पाने के कारण ऐसी भ्रांतियाँ फैला रहे हैं, जो समाज के लिए घातक हैं। ऐसी भ्रांतियों को दूर करने का प्रयास होना चाहिए। इस संदर्भ में **'पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना॥'** (3/34/2), पर कुछ लोगों की भ्रांति से उत्पन्न शंकाओं के निराकरणार्थ यह आलेख प्रस्तुत है-

उपर्युक्त चौपाई पर चर्चा करने से पूर्व उल्लेखनीय है कि मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीराम अखिल ब्रह्माण्डनायक निर्गुण ब्रह्म के अवतार हैं। उन्होंने समाज में मर्यादा स्थापित करने के उद्देश्य से सामान्य मानव के समान लीलाएँ करके एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया है, जिसका अनुसरण करने से सभी सुखी हो सकते हैं। दूसरा तथ्य यह है कि जब कभी हमें किसी प्रसंग में वर्णित किसी चौपाई, दोहा, सोरठा, छंद आदि का शाब्दिक अर्थ भ्रांति उत्पन्न कर दे, तब हमें किसी विद्वान से उसका रहस्य समझ लेना चाहिए और जब तक यह संभव न हो तब तक अपने मन से कल्पित दुर्भावना से बचना चाहिए। किसी तथ्य को समझने में हमारी स्वयं की भावना बहुत महत्त्व रखती है। हम जैसा सोचते हैं, हमें वह तथ्य अपनी भावना के अनुरूप दिखाई देता है। इसका स्पष्ट उदाहरण श्रीरामचरितमानस में धनुष-यज्ञ के प्रसंग में मिलता है। श्रीरामजी जब धनुष-यज्ञ आयोजन स्थल में प्रवेश करते हैं, तब सभी लोग अपनी-अपनी भावना के अनुसार उनका दर्शन करते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं-

जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु भूरति तिन्ह देखी तैसी॥ (1/241/4)

स्कंद पुराण के अनुसार सभी लोग जन्म से शूद्र ही होते हैं, पर संस्कारों से ब्राह्मण कहलाते हैं, इसीलिए ब्राह्मण को द्विज अर्थात् दूसरा जन्म कहा गया है, यथा-

जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्चयते।

संस्कारों से द्विज हो जाने पर भी यदि ब्राह्मण वेद-शास्त्र का ज्ञाता और सदाचरण वाला नहीं है, तो वह सोचनीय है। इस तथ्य का अयोध्याकाण्ड में इस प्रकार से वर्णन किया गया है-

सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लयलीना॥ (2/172/3)

इस भूमिका के बाद अब उपर्युक्त चौपाई के भावार्थ पर विचार करते हैं। किसी भी चौपाई, दोहा आदि के शाब्दिक अर्थ पर ध्यान देने से पूर्व उसके ऊपर और नीचे की चौपाइयों/दोहों को पढ़कर पूरा प्रसंग समझकर ही विचार करना चाहिए। किस परिप्रेक्ष्य में किससे कौन किस परिस्थिति में कह रहा है, यह जानना आवश्यक है। इस संदर्भ में एक कथा इस प्रकार से है:- एक बार इन्द्र की सभा में ऋषि दुर्वासा (विप्र) आते हैं। उस समय वहाँ संगीत सभा का आयोजन था। उनके सम्मान में सभी उठकर उनको प्रणाम करने लगे, किंतु एक गन्धर्व अपने आसन पर ही आसीन रहा। उसे इस बात का अभिमान था कि वह गायन विद्या में पारंगत है और इन विप्र को तो गायन विद्या का कुछ भी ज्ञान नहीं है और इस प्रकार उनसे श्रेष्ठ होने के कारण उनके सम्मान में उसे अपने आसन से उठने की आवश्यकता नहीं है। इस तथ्य को उन विप्र ने ताड़ लिया और तुरंत उसे राक्षस हो जाने का शाप दे डाला। अब वह गन्धर्व घबरा कर ऋषि के चरणों में गिर पड़ा और शाप विमोचन हेतु प्रार्थना करने लगा। दयालु ऋषि दुर्वासा ने कहा कि जब अखिल ब्रह्माण्डनायक निर्गुण ब्रह्म अवतार लेकर श्रीरामजी के रूप में अपनी भार्या को खोजते हुए अपने भाई लक्ष्मणजी के साथ आएँगे और तुम्हारी भुजा को काटकर तुम्हारा दाह-संस्कार कर देंगे, तब तुम पुनः गन्धर्व रूप को प्राप्त करोगे। वह गन्धर्व राक्षस योनि में चला गया। बहुत बलशाली था। उसे यह ज्ञान था कि श्रीरामजी के अलावा वह किसी से भी नहीं मारा जा सकता, अतः उसने भयंकर आतंक फैलाया। ऋषि-मुनियों को सताने लगा। उसके इस आतंक को समाप्त करने के लिए इन्द्र ने अपने वज्र के प्रहार से उसे कबंध बना दिया अर्थात् उसके पैर और सिर धड़ में समा गए, तब वह एक स्थान पर स्थिर हो गया और अपनी लम्बी-लम्बी भुजाओं से वन के जीव-जन्तुओं को पकड़कर अपनी भूख शान्त करता रहा। विधि-विधानानुसार जब श्रीरामजी ने उसका उद्धार किया, तब वह

गन्धर्व रूप में आकर कहता है-

दुरबासा मोहि दीन्ही सापा। प्रभु पद पेखि मिटा सो पापा॥ (3/33/7)

उसने अपने कथन में अभी भी ऋषि दुर्वासा के प्रति सम्मानसूचक शब्द का प्रयोग नहीं किया, अतः श्रीरामजी समझ गए कि इसकी अकड़ अभी भी बरकरार है। अभी भी इसका अभिमान शून्य नहीं हुआ है और तब वे उसे समझाते हैं कि चाहे शाप दे रहा हो, ताड़ना दे रहा हो या कड़वे वचन बोल रहा हो, तपोनिष्ठ विप्र चाहे वह शीलगुण से रहित ही हो पूज्यनीय है, पर तुम्हारे जैसा संगीत में पारंगत गुणवान अभिमानी शूद्र पूजनीय नहीं है। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

सापत ताड़त परुष कहंता। बिप्र पूज्य अस गावहिं संता॥
पूजिअ बिप्र सील गुन होना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना॥ (3/34/1-2)

कुछ लोग **'सील गुन हीना'** को **'सकल गुन हीना'** कहते सुने गए हैं। मानस की चौपाई को इस तरह तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करना अत्यंत अनुचित एवं निंदनीय है।

इस प्रसंग में विचारणीय तथ्य यह है कि उस गन्धर्व ने अभिमानवश तपोनिष्ठ ऋषि (विप्र) का अपमान करके शाप भोगी और शापमुक्त होने पर अभी भी वह अपने गुणों के अभिमानवश ऋषि के लिए सम्मानसूचक शब्दों का प्रयोग नहीं कर रहा है। भविष्य में वह यह भूल न करे, अतः श्रीरामजी उसे सावधान करते हुए समझाते हैं। इस प्रकार से यह एक व्यक्तिगत मामला है जिसे सर्वमान्य करके व्याख्या की जा रही है, इसी कारण यह भ्रांति उत्पन्न हुई है। श्रीरामजी सभी पर समान रूप से कृपा करते हैं, पर सुपात्र और कुपात्र के अनुसार भेद हो जाना स्वाभाविक है, ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार एक पिता अपनी संतानों के प्रति समभाव होते हुए भी, जो संतान उसकी सेवा में तत्पर रहती है, उस पर उसका विशेष अनुग्रह रहता है।

इस प्रकार से प्रसंग विशेष और व्यक्ति विशेष के परिप्रेक्ष्य में भावार्थ समझकर श्रीरामचरितमानस की किसी भी चौपाई, दोहा आदि के संदर्भ में कोई भ्रांति नहीं फैलानी चाहिए।

परपीड़न दोष एवं जघन्य पापों से बचें

श्री हरि की प्रेरणा एवं श्रीहर की कृपा से रचित महाकाव्य 'श्रीरामचरितमानस' गोस्वामी तुलसीदासजी की ऐसी कृति है, जो आध्यात्मिक जगत के लिए एक अनूठी धरोहर है, तो दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि से यह सम्पूर्ण मानवता के लिए अनुकरणीय है। पाप और पुण्य की परिभाषा जितनी सरलता से इसमें समझाई गई है, संभवतः अन्य ग्रन्थों में संदर्भ सहित उतनी सरलता से उपलब्ध नहीं होगी। राज्याभिषेक के पश्चात् जब श्रीरामजी अपने भाइयों एवं श्रीहनुमानजी के साथ एक उपवन में जाते हैं, तब सनकादि ऋषि उनके दर्शनार्थ आते हैं। श्रीरामजी उनका स्वागत करते हैं और वे स्तुति करके चले जाते हैं। तत्पश्चात् जिज्ञासावश भरतजी संत-असंत के लक्षण पूछते हैं। रामजी विस्तार से समझाने के पश्चात् कहते हैं कि संत और असंत के संदर्भ में सारांश स्वरूप यह समझ लेना चाहिए कि संत तो पुण्यात्मा हैं और असंत पापात्मा। पुण्य तथा पाप की परिभाषा यही है कि जिसमें दूसरों की भलाई निहित हो, वही पुण्य है एवं जिसमें दूसरे को पीड़ा पहुँचे, वही पाप है। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥ (7/41/1)

यही सिद्धांत श्री काकभुशुण्डि पक्षीराज गरुड़जी को उनके इस प्रश्न के उत्तर में कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है, सुनाते हैं। वे कहते हैं कि वेद-पुराणों में वर्णित 'अहिंसा' तो परम धर्म है और दूसरे की निंदा के समान कोई पाप नहीं है, यथा-

परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा। पर निंदा सम अघ न गरीसा॥ (7/121/22)

यहाँ पर 'अहिंसा' शब्द विचारणीय है। 'अ' का सामान्य अर्थ नहीं है और हिंसा का अर्थ मन-वाणी या कर्म से किसी को कष्ट पहुँचाना है। कुछ विद्वानों ने 'अहिंसा' शब्द में प्रयुक्त 'अ' का दूसरा भाव 'आवश्यक' कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि दुराचारी को दण्ड देने हेतु हिंसा आवश्यक हो

जाती है। श्रीराम-रावण युद्ध और महाभारत में वर्णित युद्ध इसके प्रमाण हैं।

परनिंदा से एक तो स्वयं के अन्दर नकारात्मक ऊर्जा प्रवेश करती है और दूसरे जिसकी निंदा की जा रही है उसके पास तक वे नकारात्मक तरंगें पहुँच कर आपसी द्वेषभाव पैदा करती हैं, जिससे दोनों को पीड़ा पहुँचती है। दूसरे के सुधार हेतु निंदा करना आवश्यक है। इसे संत कबीर ने मानव को निर्मल करने की प्रक्रिया कहा है, यथा-

निंदक निअरे राखिए आँगन कुटी छबाय।
बिनु पानी साबुन बिना निर्मल करे सुभाय॥

इस प्रकार से किसी की निंदा करना अथवा उसके अवगुण बताना उसे निर्मल मन बनाता है, किंतु यह साहस करके उसके सम्मुख बताना आवश्यक है और यदि समझ में आ जाए कि अमुक व्यक्ति सुधरने वाला नहीं है, तो फिर चुप रहना ही उचित है, क्योंकि ऐसे लोगों के संदर्भ में श्रीरामचरितमानस में भी लिखा है-

फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरुख हृदयँ न चेत जौं गुर मिलहिं बिरंचि सम॥ (6/16ख)

इस परिप्रेक्ष्य में यह सदा ध्यान में रखना चाहिए कि पीठ-पीछे किसी की निंदा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह कृत्य पाप की श्रेणी में आता है। इस संदर्भ में माता कौसल्या एवं भरतजी का संवाद उल्लेखनीय है जिसमें भरतजी श्रीराम वनवास में अपनी असंलिप्तता को प्रमाणित करते हुए कहते हैं कि इस षड्यंत्र में मेरी कोई भी सहमति हो तो मुझे अमुक-अमुक पाप लग जाएँ। इस प्रकार से वे विभिन्न जघन्य पापों का वर्णन करते हैं, यथा-

(1) वे कहते हैं कि हे माता! जो पाप माता-पिता और पुत्र मारने से होते हैं, जो गोशाला एवं ब्राह्मणों के नगर जलाने से होते हैं, जो पाप स्त्री एवं शिशु की हत्या करने से होते हैं और जो मित्र और राजा को जहर देने से होते हैं, वे सब पाप मुझे लगें, यदि इस काम में मेरा मत हो।

जे अघ मातु पिता सुत मारें। गाइ गोठ महिसुर पुर जारें॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हें। मीत महीपति माहुर दीन्हें॥ (2/167/5-6)

(2) हे विधाता! कर्म, वचन और मन से होने वाले सभी पातक एवं उपपातक मुझे लगें, यदि इसमें मेरा मत हो।

जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥
ते पातक मोहि होहुँ बिधाता। जौं यहु होइ मोर मत माता॥ (2/167/7-8)

(3) जो लोग श्रीहरि और श्रीशंकरजी के चरणों को छोड़कर भयानक भूत-प्रेतों को भजते हैं, हे माता! यदि इसमें मेरा मत हो तो विधाता मुझे उनकी गति दे।

जे परिहरि हरि हर चरन भजहिं भूतगन घोर।
तेहि कइ गति मोहि देउ बिधि जौं जननी मत मोर॥ (2/167)

(4) जो लोग वेदों को बेचते हैं, धर्म को दुह लेते हैं, चुगलखोर हैं, दूसरों के पापों को कह देते हैं, कपटी-कुटिल-कलहप्रिय और क्रोधी हैं, वेद की निंदा करने वाले और विश्वभर के विरोधी हैं (वे सब पाप मुझे लगें यदि इसमें मेरा मत हो)।

बेचहिं बेद धरमु दुहि लेहीं। पिसुन पराय पाप कहि देहीं॥
कपटी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी। बेद बिदूषक बिस्व बिरोधी॥ (2/168/1-2)

(5) जो लोभी, लम्पट और लालचियों का आचरण करने वाले हैं, जो पराये धन और पराई स्त्री की ताक में रहते हैं, हे जननी! यदि इस काम में मेरी सम्मति हो तो मैं उनकी भयानक गति को पाऊँ।

लोभी लंपट लोलुपचारा। जे ताकहिं परधनु परदारा॥
पावौं मैं तिन्ह कै गति घोरा। जौं जननी यहु संमत मोरा॥ (2/168/3-4)

(6) जिनका सत्संग में प्रेम नहीं है, जो अभागे परमार्थ के मार्ग से विमुख हैं, जो मनुष्य शरीर पाकर श्रीहरि का भजन नहीं करते, जिन्हें हरि-हर का सुयश नहीं सुहाता मुझे उनकी गति प्राप्त हो यदि इसमें मेरी सम्मति हो।

जे नहिं साधुसंग अनुरागे। परमारथ पथ बिमुख अभागे॥
जे न भजहिं हरि नरतनु पाई। जिन्हहि न हरि हर सुजस सोहाई॥ (2/168/5-6)

(7) जो वेदमार्ग को छोड़कर वाम (वेदप्रतिकूल) मार्ग पर चलते हैं, जो ठग

हैं और वेश बनाकर जगत को छलते हैं, हे माता! यदि मैं इस भेद को जानता भी होऊँ, तो शंकरजी मुझे उन लोगों की गति दें।

तजि श्रुतिपंथु बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जगु छलहीं॥
तिन्ह कै गति मोहि संकर देऊ। जननी जौं यहु जानौं भेऊ॥ (2/168/7-8)

उपर्युक्त जिन पापों का वर्णन किया गया है उनको रावण के अनुचर सहजरूप में करते थे, क्योंकि उन्हें हिंसा करने से प्रीति हो गई थी और जिनकी हिंसा में प्रीति हो उनके द्वारा किए गए पापों की कोई सीमा नहीं होती है। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति॥ (1/183)

दूसरे को पीड़ा पहुँचाने के समान कोई पाप नहीं है, परंतु अपवाद स्वरूप यदि अपराधी को दण्ड देकर उसे सुधारने का प्रयास किया जाता है अथवा किसी व्यक्ति को जान से मारने के अपराध में यदि अपराधी को मृत्यु दण्ड दिया जाता है, तो न्यायाधीश को इसका पाप नहीं लगता है, बल्कि यदि वह ऐसा दण्ड न दे तो उसे पाप लगेगा, क्योंकि अपराधी को सजा मिलनी ही चाहिए। कभी-कभी ऐसा देखने में आया है कि कोई अपराधी सांसारिक न्यायाधीश से वकीलों के दाव-पेंच अथवा समुचित गवाहों के अभाव में तो बच जाता है, पर ईश्वरीय दण्ड व्यवस्था के तहत उसे सजा अवश्य मिलती है। इस संदर्भ में एक सत्य घटना इस प्रकार से है-

एक बार एक निचली अदालत का न्यायाधीश सायंकाल वेला में टहल रहा था। सूर्यास्त हो चुका था, पर अँधेरा नहीं हुआ था। उन्होंने देखा कि एक सुनसान जगह पर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति पर धारदार हथियार से प्रहार कर रहा है। वे सज्जन एक पेड़ की आड़ में छिपकर देखने लगे। जिस व्यक्ति ने हत्या की थी, उसे उन्होंने पहचान लिया, पर चुप रहे। इस घटना के लगभग 20 वर्ष पश्चात् वे सज्जन जिला सत्र न्यायाधीश बन गए और उनकी कोर्ट में हत्या के मामले का एक केस आया। वे पहचान गए उस हत्यारे को और गवाह-सबूत उसके पक्ष में ऐसे पेश हुए कि न्यायाधीश को उसे आजीवन कारावास की सजा सुनानी पड़ी, जबकि उनको लग रहा था कि वह व्यक्ति

निर्दोष है। जेल भेजने से पूर्व पुलिस सुरक्षा में अपराधी से कुछ बात करने के लिए उन न्यायाधीश ने अपने चैम्बर में बुलाया और उससे कहा कि ऐसा लग रहा है कि इस केस में आपको फँसाया गया है, पर मैं मजबूर था, गवाह सबूतों के आधार पर अपना निर्णय देने को। क्या आपने पहले कोई ऐसा जघन्य अपराध किया है? उसने बताया कि लगभग बीस वर्ष पहले उसने एक हत्या की थी, पर गवाह-सबूत न मिलने से वह बरी हो गया था। न्यायाधीश समझ गए कि यह है ईश्वर का न्याय।

इस लेख का सारांश यह है कि दुर्लभ मानव शरीर प्राप्त करके इसे सार्थक करने हेतु इसे मानव-सेवा और हरि भजन में लगाएँ। यदि यह न बन सके तो कम से कम **'पर-पीड़न-दोष'** और जघन्य पापों से तो बचते रहें। स्मरण रहे कि भले ही सांसारिक न्यायालय से हमें दण्ड न मिल सके, पर ईश्वरीय विधान के अनुसार **'जो जस करइ सो तस फल चाखा॥'** (2/219/4) अर्थात् जो जैसा करेगा, वह वैसा भरेगा।

बैर न बिग्रह आस न त्रासा

एक कहावत है, **'मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'**। अर्थात् मन की ही प्रधानता है। मन ही बन्ध-मोक्ष, स्वर्ग-नरक का कारण है, अतः मन, जो इंद्रियों को वश में रख सकता है, उसको वश में करना परम आवश्यक है। श्रीरामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने मन को समझाते हुए इसे सठ मना कहा है, यथा-

सुख भवन संसय समन दवन बिषाद रघुपति गुन गना।

तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि संतत सठ मना।। (5/60/छंद)

मन की स्थिति समझने के लिए हमें अपने शरीर का आध्यात्मिक विश्लेषण करके समझना होगा। हमारा शरीर पंच तत्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश एवं वायु) से निर्मित है और ये सभी जड़ तत्व हैं। पन्द्रह और जड़ तत्व हैं-पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (नाक, कान, नेत्र, जीभ एवं त्वचा), पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पैर, मुख, एवं दो गुप्तांग) तथा पंच विषय (सूँघना, सुनना, देखना, स्वाद लेना एवं स्पर्श), जिनका रसास्वादन इंद्रियाँ करती हैं। इस प्रकार इस बीस जड़ तत्वों के पिण्ड में समाहित हैं चार और जड़ तत्व-मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार। इस प्रकार ये सभी 24 जड़ तत्त्व हैं और इनको प्रकाशित कर रहा है ईश्वर का चेतन तत्त्व। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सेचता।।
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।। (1/117/5-6)

अर्थात् विषय, इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के देवता और जीवात्मा-ये सब एक की सहायता से एक चेतन होते हैं। इन सबका जो परम प्रकाशक है (जिससे ये सभी प्रकाशित हैं), वही अनादि ब्रह्म अयोध्या नरेश श्रीरामचन्द्रजी हैं।

श्रीभगवद्गीता में भी जड़ प्रकृति एवं जीवरूपा चेतन प्रकृति का वर्णन इस प्रकार से किया गया है-

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥ (गीता 7/4-5)

अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी-इस प्रकार आठ प्रकार से विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकार के भेदों वाली तो अपरा अर्थात् (मेरी) जड़ प्रकृति है और हे महाबाहो! इससे दूसरी को, जिससे यह संपूर्ण जगत धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान।

इस प्रकार मन की स्थिति समझकर हमें उस पर नियंत्रण रखना होगा। यह अत्यंत कठिन कार्य है। जब भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के माध्यम से अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा कि मन पर नियंत्रण रखो, तब अर्जुन ने कहा-

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रह मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ (गीता 6/34-35)

अर्थात् अर्जुन ने कहा-हे श्रीकृष्ण! यह मन बड़ा चंचल, प्रमथन स्वभाव वाला, बड़ा दृढ़ और बलवान है, इसलिए उसको वश में करना मैं वायु को रोकने की भाँति अत्यंत दुष्कर मानता हूँ। इस पर श्रीभगवान बोले-हे महाबाहो! निःसंदेह मन चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है, परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास और वैराग्य से वश में होता है।

इस प्रकार हमें अभ्यास और वैराग्य द्वारा मन पर नियंत्रण रखने का अभ्यास करना होगा। हम सभी कलियुग के प्राणी हैं और कलियुग में सर्वत्र मल-विक्षेप फैला हुआ है, फिर इस मन को कैसे वश में रखें। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥ (1/27/4)

इस पाप पयोनिधि में जब हमारा मन मछली की तरह रह रहा है, तब हम पापों से कैसे बच सकते हैं। इसी प्रश्न के उत्तर में कलियुग में यह छूट है कि

यदि हमारा मन कभी-कभार विषयों में चला भी जाए तो भी मानसिक पाप नहीं लगता, यथा-

कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा॥ (7/103/8)

भगवन्नाम मनन-चिंतन, जप-कीर्तन ही एक मात्र कलियुग में मन पर काबू करके प्रभु प्राप्ति का सुगम साधन है, यथा-

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥ (1/27/7)

इस प्रकार से यह स्पष्ट सिद्ध है कि हम भगवन्नाम का ही सदैव चिंतन करें तो हम मन पर नियंत्रण कर सकेंगे। अनंत ब्रह्माण्डनायक परब्रह्म परमात्मा के सगुण रूप श्रीरामजी का अयोध्यावासियों ने साक्षात् दर्शन किया, उनका सान्निध्य पाया, परंतु उन्हें भी श्रीरामजी द्वारा समझाया कि इस दुर्लभ मानव शरीर को प्राप्त कर यदि अपना आत्मोद्धार न कर सके तो फिर पछताने के अलावा कुछ नहीं रहेगा। दूसरी ओर अधम निशाचर जो लंका के युद्ध में मारे गए थे, उन्हें परमगति प्राप्त हुई, क्योंकि श्रीरामजी कहते हैं, **'बयर भाव सुमिरत मोहि निसिचर'** (6/45/4)। मन जिसमें लग जाता है, जीव को उसी की प्राप्ति होती है। इस तथ्य को मानस में कई प्रसंगों में दुहराया गया है। एक उदाहरण लंकाकाण्ड का विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्रीरामजी के कहने पर इन्द्र ने रणांगण में सुधा वृष्टि की। यद्यपि सुधा वृष्टि दोनों दलों के मृतकों पर हुई, पर केवल वानर-भालू ही जीवित हुए। सभी राक्षस, जिनका मन श्रीरामजी में रम गया था, नहीं जिए, क्योंकि उन्हें परमधाम प्राप्त हो गया था, यथा-

सुधाबृष्टि भै दुहु दल ऊपर। जिए भालु कपि नहिं रजनीचर॥
रामाकार भए तिन्ह के मन। मुक्त भए छूटे भव बंधन॥ (6/114/6-7)

यदि हमारा मन भगवान के नाम-रूप-लीला-धाम किसी एक में भी लग जाता है, तब हमें शरीर के सुख-दुख का भान नहीं होता है। जब राजा जनक श्रीसीताराम के दर्शनार्थ चित्रकूट की यात्रा करते हैं, उस समय उन्होंने तथा उनके साथ सभी लोगों ने मार्ग के श्रम का अनुभव ही नहीं किया, क्योंकि उनका मन तो वहाँ था, जहाँ रघुवर-वैदेही थीं, यथा-

गिरिबरु दीख जनकपति जबहीं। करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं॥

राम दरस लालसा उछाहू। पथ श्रम लेसु कलेसु न काहूँ॥
मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥
आवत जनक चले एहि भाँती। सहित समाज प्रेम मति माती॥ (2/275/2-5)

इस प्रकार से हमें भगवन्नाम का मनन-चिंतन करके ही मन को वश में रखकर अपने आत्म कल्याण के मार्ग पर अग्रसर होना चाहिए। श्रीरामचरितमानस भगवान श्रीराम का ग्रन्थावतार है और यह 'रामनाम' से ओत-प्रोत है। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥ (1/10/1)

इस प्रकार से श्रीरामचरितमानस का पाठ तथा इसके प्रसंगों का मनन-चिंतन करना श्रीराम-नाम जप-चिंतन की तरह ही है।

मन की इस भूमिका के साथ श्रीरामजी द्वारा अयोध्यावासियों को उनके आत्मोद्धार हेतु जो उपदेश दिया गया, जिसे विद्वान 'श्रीरामगीता' के नाम से परिभाषित करते हैं, उस पर चर्चा करते हैं।

इस नश्वर शरीर की क्षणभंगुरता की ओर सचेत करते हुए श्रीराम ने अयोध्यावासियों को, जिनमें स्वयं उनके गुरु वसिष्ठजी, अन्य पूजनीय संत एवं जन सामान्य थे, कहा कि मानव शरीर प्राप्त करने का लक्ष्य भोग-विलास नहीं है, स्वर्ग के सुख भी अल्प समय के होते हैं और पतन होकर धराधाम पर किसी न किसी योनि में आना पड़ता है। इस प्रकार यह जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता रहता है। ईश्वर परम कृपा करके कभी-कभार इसे मानव शरीर देता है, अतः इस दुर्लभ मानव तन को पाकर परलोक सँवारना चाहिए। गीता में भी यही उपदेश निहित है, यथा-

उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ (गीता 6/5)

अर्थात् अपने द्वारा अपना संसार-समुद्र से उद्धार करें और अपने को अधोगति में न डालें, क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है।

ज्ञान एवं भक्ति दो साधन हैं आत्मकल्याण हेतु, पर अधिक कठिन होने

के कारण ज्ञान उतना साध्य नहीं है, जितनी भक्ति-साधना। भक्ति पथ पर कोई विशेष प्रयास जैसे-योग-जप-तप-यज्ञ-उपवास कुछ भी नहीं करना होता है। भक्ति का एक सरल सूत्र है-मन की कुटिलता रहित सरल स्वभाव एवं प्रारब्धवश जो प्राप्त हो उसमें संतोष रखना। श्रीरामजी कहते हैं कि बहुत विस्तार से क्या कहूँ, मैं (भगवान) इस आचरण के वश में रहता हूँ-

बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥
प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई॥ (7/46/5-8)

मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ता कर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥ (7/46)

इस लेख में उपर्युक्त प्रथम चौपाई की अर्द्धाली **'बैर न विग्रह आस न त्रासा'** पर विचार प्रस्तुत हैं। इस अर्द्धाली में चार बिंदु अनुपालनार्थ कहे गए हैं-(1) किसी भी प्राणी मात्र से वैर न रखना (2) किसी से लड़ाई-झगड़ा न करना (3) किसी से कोई आस न रखना (ईश्वर के अतिरिक्त) और (4) किसी से भी भयभीत न होना। अब इन बिंदुओं पर विचार करते हैं।

काकभुशुंडिजी को समझाते हुए श्रीरामजी कहते हैं कि सभी मेरे द्वारा ही उत्पन्न किए गए हैं, अतः मुझे सभी प्यारे हैं।

सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥ (7/86/4)

गीता में भगवान श्रीकृष्णजी भी यही कहते हैं कि सभी जीवों को बीज प्रदान करने वाला पिता मैं ही हूँ, यथा-

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ (गीता 14/4)

अर्थात् हे अर्जुन! नाना प्रकार की सब योनियों में जितनी मूर्तियाँ हैं अर्थात् शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं, प्रकृति तो उन सबकी गर्भ धारण करने वाली माता है और मैं बीज को स्थापित करने वाला पिता हूँ।

इस प्रकार सभी प्राणी हमारे भाई-बहिन की तरह हैं, फिर हम उनसे वैर

कैसे कर सकते हैं। इस भावना से व्यवहार करने पर किसी से भी वैर नहीं रहेगा और यदि कोई वैर नहीं है तो फिर लड़ाई-झगड़े का प्रश्न ही नहीं उठता है। वास्तव में वैर-विग्रह हमारे अपने दोष के कारण होता है। अहंकारवश हम अपने को सदा निर्दोष मानते हुए केवल दूसरों पर ही दोषारोपण करते रहते हैं, यही वैर-विग्रह के मूल में है। इस पर संत कबीर कहते हैं-

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजो आपना मुझसे बुरा न कोय॥

यदि हम विचार करके ऐसा व्यवहार करें कि यदि मेरे साथ कोई ऐसा व्यवहार करे तो मुझे कैसा लगेगा, तब भी वैर-विग्रह टल जाएगा। इस संदर्भ में 'कल्याण पत्रिका' के आदि सम्पादक नित्यलीलालीन श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार के विचार इस प्रकार से हैं-

समझो तुम जिन जिन बातों को अपने मन हित के प्रतिकूल।
उन्हें न बरतो कभी किसी से समझो यही धर्म का मूल॥

जहाँ तक किसी प्राणी-पदार्थ परिस्थिति से किसी प्रकार की आशा रखने की बात है, इस विषय में भी नित्यलीलालीन श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार का उपदेश है-

प्राणि पदार्थ परिस्थिति से तुम रखो कभी न कुछ भी आस।
आशा करो आत्मसुख की जो हर हालत में रहता पास॥

अब 'न त्रासा' पर विचार करते हैं। त्रास अर्थात् भय। यह दो प्रकार से होता है एक तो यह कि हम भयभीत रहते हैं कि वर्तमान सुखमय स्थिति दुख में न बदल जाए और दूसरे हमें भय रहता है कि कहीं हमारे ऊपर महान विपत्ति न आ जाए। यदि हम ईश्वर के शरणागत हो जाते हैं तो फिर सदैव निर्भय रह सकते हैं। जिस प्रकार एक अबोध बालक अपनी माता के भरोसे और एक समर्थ स्वामी का सेवक अपने स्वामी के भरोसे सदा निर्भय-निश्चिंत रहता है, इसी प्रकार हम भी इस स्थिति को प्राप्त कर लें तो निर्भय हो जाएँगे। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥ (4/3/4)

सीताहरण के पश्चात् विरह-लीला करते देखकर नारदजी को दुख हुआ कि मेरे शाप को अंगीकार करके प्रभु विरह-दुख भोग रहे हैं और सुअवसर पाकर वे पंपापुर सरोवर तट पर प्रसन्न मुद्रा में आसीन श्रीरामजी के पास जाते हैं-

बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला॥ (3/41/4)

श्रीरामजी को परम प्रसन्न जानकर नारदजी प्रश्न करते हैं कि प्रभु जब आपकी माया ने ग्रसित किया था, तब मैं विवाह करना चाहता था, पर किस कारण से आपने नहीं करने दिया। उत्तरस्वरूप श्रीरामजी कहते हैं कि जिस प्रकार एक माँ अपने अबोध शिशु की रक्षा में तत्पर रहती है, उसी प्रकार मैं अपने भक्तों के कल्याण-साधन में रत रहता हूँ। तुम जैसे त्यागी, वैरागी, भक्त साधक जो संसार की मोह-माया से दूर हो गए हैं, उनको पुनः माया में कैसे फँसाता। मेरा वचन है-

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ (3/43/4)
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥ (3/43/5)
मोरें पौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ (3/43/ 8)

साधक के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि मैं पापी हूँ, मेरे पापों को देखकर भगवान मुझे शरण क्यों देंगे। इस पर श्रीरामजी की घोषणा है कि सच्चे मन से (छलछिद्ररहित) मेरी शरण में यदि कोई आता है तो चाहे उसे करोड़ों ब्राह्मण-वध का पाप लगा हो, उसे भी शरण में ले लेता हूँ, यथा-

कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहि ताहू॥
निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥ (5/44/1तथा 5)

भगवान श्रीकृष्ण भी इसी प्रकार का आश्वासन देते हैं शरणागत के लिए, यथा-

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (गीता 18/66)

अर्थात् सम्पूर्ण धर्मों अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के आश्रय को मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान सर्वाधार परमेश्वर की शरण में आ जा। मैं तुझे

सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर। गोस्वामी तुलसीदासजी हनुमान चालीसा में भी इसी प्रकार का उल्लेख करते हैं-

सब सुख लहै तुम्हारी सरना। तुम रक्षक काहू को डर ना॥

भगवान के सभी सगुण स्वरूप (पूर्ण अवतार या अंश अवतार), उसी एक अनंत ब्रह्माण्डनायक परब्रह्म के हैं, पर अपनी रुचि के अनुसार किसी एक रूप को मन में बसाकर उसे अपना इष्टदेव बना लेना चाहिए और अन्य स्वरूपों में अपने इष्टदेव की ही झलक देखने का अनुभव करना चाहिए। एक इष्ट, एक मंत्र और एक ग्रंथ के सिद्धांत के अनुसार जिनके श्रीरामजी इष्टदेव हैं, उन्हें **'श्रीराम जय राम जय जय राम'** इष्ट मंत्र अपनाना चाहिए और इष्ट ग्रंथ रामायण अर्थात् श्रीरामचरितमानस हो। जब गोस्वामी तुलसीदासजी भगवान श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ मथुरा-बृंदावन गए, तब उन्होंने यह प्रार्थना की-

भली बनी छबि आपकी भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बान लो हाथ॥

लोगों का कहना है कि **''अपने भक्त के कारणे कृष्ण बने रघुनाथ।''**

इस प्रकार हमें सभी में अपने इष्टदेव के दर्शन करने का अभ्यास करना चाहिए और सदैव इस भाव में रहना चाहिए कि हम भगवत्शरण में हैं। श्रीरामजी के विजय मंत्र 'श्रीराम जय राम जय जय राम' में भगवत्शरण होने का भाव इस प्रकार से है-'श्रीराम अर्थात् हे राम!, जय राम अर्थात् आपकी जय हो और जय जय राम अर्थात् कि मैं आपकी शरण में हूँ। शरण में होने के भाव के साथ-साथ यह विचार करें कि प्रभु श्रीराम सामने खड़े हैं और मैं लंका से अपने भाई से तिरस्कृत होकर आए विभीषण की तरह यह प्रार्थना करते हुए शरणागत हूँ-

श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर।
त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर॥ (5/45)

शरणागति के संदर्भ में एक अनन्य शिवभक्त का कथन है कि जब मानव संसार के सभी सहारों से निराश हो जाता है, तब वह भगवान के शरणागत होकर आर्त्तस्वर से प्रार्थना करता है और तब अवश्य ही उसका संकट दूर हो जाता है। इस संदर्भ में उन्हीं अनन्य शिवभक्त की प्रेरणा से रचित यह कीर्तन

उल्लेखनीय है-

टूटे सभी सहारे आया शरणा तेरी। बैल वाले गौरी प्यारे करो न देरी।।

(भक्तिपुष्प-पृष्ठ 43)

द्रौपदी के चीरहरण प्रसंग में यही हुआ। वह अपनी लज्जा बचाने हेतु भीष्म, द्रोणाचार्य, महाराज धृतराष्ट्र आदि से हाथ जोड़कर-गिड़गिड़ाकर विनती करती रही, पर जब उसकी प्रार्थना किसी ने नहीं सुनी, तब हारकर उसने भगवान कृष्ण को पुकारा और तत्क्षण प्रभु ने साड़ी इतनी बढ़ा दी कि एक कहावत बन गई, **'नारी बीच साड़ी है या साड़ी बीच नारी'**। इसे भक्तजनों ने भगवान के वस्त्रावतार से सम्बोधित किया है। स्वयं श्रीरामजी का कथन है कि मेरा दास कहलाकर जो किसी अन्य प्राणी से आशा रखता है, तो फिर मुझमें उसका विश्वास कहाँ रहा, यथा-

मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा।। (7/46/3)

श्रीहनुमानजी लंका में सीता माताजी के दर्शनोपरान्त जब रावण की सभा में जाते हैं, तो उसे भी भगवत्शरण में जाने का परामर्श देते हैं, यथा-

प्रनतपाल रघुनायक करुना सिंधु खरारि।

गएँ सरन प्रभु राखिहैं तव अपराध बिसारि।। (5/22)

भगवत्शरण आ जाने के पश्चात् जीव उसी प्रकार सुखी रहता है, जिस प्रकार अगाध जल में मछली। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकउ बाधा।। (4/17/1)

सारांश स्वरूप यह विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि भगवत्शरण हो जाने पर हमारे इहलोक और परलोक दोनों सुधर जाएँगे, अतः हमें भगवान के इस कथन, **'वैर न बिग्रह आस न त्रासा'** को अपने आचरण में उतारना चाहिए, इसी में हमारा कल्याण निहित है।

बिनु श्रम नारि परम गति लहई

श्रीरामचरितमानस में ज्ञान-भक्ति-वैराग्य के साथ-साथ समाज के सभी वर्गों एवं परिवार के सभी सदस्यों के कर्तव्य-धर्म का आदर्श वर्णित है, जिसके आचरण से इहलोक और परलोक दोनों का सुधार संभव है।

पुरुषों के लिए बहुत से नियमों का वर्णन श्रीरामचरितमानस में वर्णित है, किंतु नारियों के लिए केवल और केवल 'पातिव्रतधर्म' पालन के लिए कहा गया है। इसी से वे परम गति प्राप्त कर सकती हैं। उन्हें और कोई श्रम करने की आवश्यकता नहीं है। पातिव्रतधर्म में पति सेवा के साथ-साथ उनके माता-पिता-गुरु की सेवा का भी विधान है। इस लेख में इसी विषय पर मानस में वर्णित विचार प्रस्तुत हैं। पार्वती-शिव विवाह के पश्चात् पार्वती की माता मैना नारी-धर्म की शिक्षा देती हैं। इसी तरह सीता-राम विवाह के पश्चात् विदा के समय सीताजी की माता सुनयनाजी ने सीताजी को नारी-धर्म की शिक्षा दी। वनवास काल में जब श्रीरामजी अत्रि ऋषि के आश्रम में गए, तब सती अनसूयाजी ने सीताजी को नारी-धर्म की शिक्षा दी। इसके अलावा भी मानस में नारी-धर्म से संबंधित कुछ शिक्षाएँ वर्णित हैं। इन्हीं शिक्षाओं का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है।

नारी-धर्म की सभी शिक्षाओं के मूल में है नारी का पातिव्रत धर्म, इसके अलावा नारी को इहलोक और परलोक सुधार के लिए और कुछ करने की आवश्यकता ही नहीं है, यथा-

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा।। (3/5/10)

पार्वती-शिव विवाह के पश्चात् पार्वतीजी की माता मैनाजी उन्हें शिक्षा देते हुए कहती हैं कि सदा शंकरजी की पूजा करना। नारी-धर्म में पति के अलावा और किसी देवता की पूजा का विधान नहीं है, यथा-

करेहु सदा संकर पद पूजा। नारिधरमु पति देउ न दूजा।। (1/102/3)

इसी प्रकार से सीताजी की माता सुनयना उन्हें शिक्षा देते हुए कहती हैं-

सासु ससुर गुर सेवा करेहू। पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू।। (1/334/5)

यहाँ पर यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि माता मैनाजी ने केवल शंकरजी की पूजा-सेवा को कहा है, क्योंकि उनके परिवार में सेवा करने के उद्देश्य से और कोई सदस्य नहीं है, पर सीताजी की माता ने सास-ससुर-गुरु की सेवा का भी आदेश दिया है और कहा कि पति का रुख (रुझान) अर्थात् उनकी इच्छा समझकर उनकी आज्ञा का पालन करना। सीताजी ने इसी शिक्षा को शिरोधार्य कर मूल मंत्र के रूप में अपनाया। श्रीरामजी पिता की आज्ञा पालन हेतु मुनि वेश में 14 वर्ष के लिए वन जाने को तैयार थे। व्याकुल सीता भी वन जाने को उद्यत थीं। इस परिस्थिति में श्रीरामजी की इच्छा के साथ-साथ उनकी आज्ञा भी थी कि सीते! तुम घर में ही रहकर मेरी माता की सेवा करो। वे कहते हैं-

कहउँ सुभायँ सपथ सत मोही। सुमुखि मातु हित राखउँ तोही। (2/61/8)

इस उपदेश अथवा पति आज्ञा सुनकर भी सीताजी कहती हैं कि हे प्राणनाथ! आपके बिना देवलोक भी मुझे नरक के समान है। वे परिवार-धर्म के ऊपर पातिव्रत धर्म को महत्त्व देते हुए कहती हैं-

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते।।
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू।।
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी।। (2/65/3-4 एवं 7)

वनवास काल में जब श्रीरामजी भार्या सीता एवं भाई लक्ष्मण के साथ चित्रकूट से दण्डकारण्य जाते हुए अत्रि ऋषि के आश्रम में जाते हैं, तब ऋषि पत्नी परमसती अनसूयाजी उन्हें पातिव्रत धर्म की शिक्षा देते हुए कहती हैं कि जगत में पतिव्रताएँ चार प्रकार की हैं, यथा-

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं।।
मध्यम पर पति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें।।
धर्म बिचारि समुझि कुल रहई। सो निकिष्ट त्रिय श्रुति अस कहई।।
बिनु अवसर भय तें रह जोई। जानेहु अधम नारि जग सोई।। (3/5/12-15)

नारी-धर्म की शिक्षा का और विस्तार करते हुए अनसूयाजी कहती हैं कि आपत्ति काल में ही नारी-धर्म की असली परीक्षा होती है, यथा-

धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परिखिअहिं चारी॥ (3/5/7)

यहाँ परमसती अनसूयाजी के संदर्भ में एक घटना का उल्लेख करना संगत होगा ताकि उनके पातिव्रतधर्म के प्रभाव से प्राप्त तपोबल का दिग्दर्शन हो सके। एक बार त्रिदेव, ब्रह्मा-विष्णु-महेश अनसूयाजी की परीक्षा लेने हेतु मुनि वेश में उनके आश्रम में गए और उनसे भिक्षा माँगने लगे। ऋषि-पत्नी गृहस्थाश्रम के अनुकूल जब उन्हें भिक्षा देने लगीं, तब कपट वेशधारी तीनों मुनियों ने कहा कि हम आपसे तभी भिक्षा ग्रहण करेंगे जब आप हमें निर्वस्त्र होकर भिक्षा देंगी। वे सोच में पड़ गईं और समझ गईं कि ये कोई सामान्य मुनिगण नहीं हैं। अपने पातिव्रतधर्म के तपोबल से उन्होंने रहस्य जानकर उनकी शर्त के अनुसार भिक्षा देना स्वीकार कर लिया। अब परमसती ने अपने पातिव्रतधर्म के प्रभाव से तीनों देवों को छः-छः माह के शिशु के रूप में परिवर्तित कर दिया और तीन पालने डालकर उन्हें झुलाते हुए भिक्षास्वरूप अपना स्तनपान कराया। इस पर एक बुंदेलखण्डी कवि ने लिखा है-

सती अनुसुइया न डाल दिए पालना।
तीन देव झूल रहे बन करके लालना॥

इसकी सूचना जब त्रिदेवियों-सरस्वती-लक्ष्मी-उमा को प्राप्त हुई, तो वे परमसती अनसूयाजी के आश्रम में आकर क्षमा माँगकर अपने पतियों को ले जाती हैं। उल्लेखनीय है कि इन त्रिदेवियों ने ही परमसती की परीक्षा लेने अपने-अपने पतियों को प्रेरित किया था।

बालि-वध के पश्चात् श्रीरामजी वर्षाकाल में प्रवर्षण पर्वत पर निवास करते हैं। उस समय वर्षा ऋतु का विशद वर्णन है, इसमें नारी-धर्म से संबंधित यह शिक्षा संनिहित है-

महाबृष्टि चलि फूटि किआरीं। जिमि सुतंत्र भएँ बिगरहिं नारीं॥ (4/15/7)

वर्तमान युग में यह शिक्षा विवादित हो सकती है, परन्तु यह सत्य है कि स्त्री की स्वतंत्रता तो उचित है, पर स्वच्छंदता उसके लिए ही हानिप्रद हो सकती है। यहाँ पर स्वतंत्रता और स्वच्छंदता में अंतर समझ लेना चाहिए। आज नारियाँ सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान कार्य कर रही हैं, इसमें कोई बुराई नहीं है, पर जब वह एक सीमा के बाहर स्वच्छंद विचरण करने लगती है,

तभी संकट पैदा हो जाता है। इसका उदाहरण भी श्रीरामचरितमानस में उपलब्ध है। पंचवटी प्रवास के दौरान सीताजी के कहने पर जब श्रीरामजी मायारूपी स्वर्णमृग के पीछे चले जाते हैं और जब वह मृग मरते समय लक्ष्मणजी की आवाज बनाकर सहायता के लिए पुकारता है, तब सीताजी लक्ष्मणजी को उन्हें अकेला छोड़कर जाने को विवश कर देती हैं। लक्ष्मणजी कवच स्वरूप एक रेखा खींचकर जाते हैं और कहकर गए कि माता किसी भी हालात में इस रेखा (लक्ष्मण रेखा) को पार न करना। सूनापन देखकर रावण यती के वेश में आकर भिक्षा माँगता है और लक्ष्मण रेखा से बाहर आने को सीताजी को विवश कर देता है। इस कारण सीताहरण हो जाता है। इस प्रसंग के उल्लेख का आशय यह है कि जब नारी एक सीमा रेखा (लक्ष्मण रेखा) को पार कर जाती है, तब फिर वह सुरक्षित नहीं है और उसका अहित ही होता है।

श्रीरामजी की वनवास यात्रा प्रारम्भ होते ही उनके विरह में व्याकुल राजा दशरथ अपने सखा के समान मंत्री सुमंत्र को बुलाकर कहते हैं कि रथ में बिठाकर राम-सीता-लक्ष्मण को दो-चार दिन वन-यात्रा एवं गंगास्नान कराके लौटा लाना। यदि दृढ़ संकल्पी दोनों भाई न लौटें तो तुम सीता को लौटा लाना, इससे मेरे प्राणों को कुछ आधार मिल जाएगा। गंगा पार करने से पूर्व, जब श्रीरामजी ने मंत्री सुमंत्र से धर्म-नीति का विशद वर्णन करते हुए अयोध्या लौटने को स्पष्ट मना कर दिया, तब सुमंत्र ने राजा दशरथ का आर्त्तमय संदेश सुनाया कि यदि सीता लौट आएँ तो महाराज के प्राण बच सकते हैं। इस संदेश को सुनकर श्रीरामजी यहाँ भी सीताजी को समझाकर अयोध्या लौट जाने को कहते हैं। इस पर पातिव्रतधर्म में दृढ़ निश्चयी सीताजी श्रीरामजी से यह कहती हैं-

प्रभु करुनामय परम बिबेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी॥
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई॥ (2/97/5-6)

इसके पश्चात् वे मंत्री सुमंत्र से कहती हैं कि आप मेरे पिता एवं ससुर के समान हितकारी हैं, आपको उत्तर देना बहुत अनुचित है, किंतु आपत्तिकाल समझकर आपको बताना चाहती हूँ कि मैंने अपने पिता के वैभव और ससुरजी

की प्रतिष्ठा-सम्मान को देखा है और फिर माता के समान मेरी सासूजी हैं, किंतु श्रीरघुनाथजी के चरणकमलों के अलावा मुझे स्वप्न में कोई सुखद नहीं लगा, यथा-

बिनु रघुपति पद पदुम परागा। मोहि केउ सपनेहुँ सुखद न लागा॥ (2/98/6)

नारी के लिए सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण आशीर्वाद उसको **'सदा सुहागिन'** होने का है। यह आशीर्वाद सीताजी को वनवास काल में वनवासी महिलाओं ने दिया, यथा-

अति सप्रेम सिय पायँ परि बहुबिधि देहिं असीस।
सदा सोहागिनि होहु तुम्ह जब लगि महि अहि सीस॥ (2/117)

चित्रकूट में जब सीताजी अपनी तीनों सासुओं के प्रेम से चरण छूती हैं, तब वे भी उन्हें सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद देती हैं, यथा-

लागि लागि पग सबनि सिय भेंटत अति अनुराग।
हृदयँ असीसहिं पेम बस रहिअहु भरी सोहाग॥ (2/246)

नारी का यह भी परमधर्म है कि आपत्तिकाल में अपने पति को धैर्यधारण करने का परामर्श दे। यदि पति धर्मपथ से विचलित होता दिखाई दे तो बारम्बार उसे धर्मपथ पर लाने का प्रयास करे। महाराज दशरथ जब श्रीराम-विरह में अपने प्राण त्यागने को उद्यत थे, तब कौसल्याजी उनको धैर्यधारण कराते हुए कहती हैं-

नाथ समुझि मन करिअ बिचारू। राम बियोग पयोधि अपारू॥ (2/154/5)

करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥ (2/154/6)

धीरजु धरिअ त पाइअ पारू। नाहिं त बूड़िहि सबु परिवारू॥ (2/154/7)

जौ जियँ धरिअ बिनय पिय मोरी। रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी॥ (2/154/8)

सीताहरण के पश्चात् रानी मंदोदरी ने रावण को बारम्बार (चार बार) समझाया कि सीता को लौटाकर मेरे सुहाग की रक्षा कीजिए। मानस के अनुसार विवरण इस प्रकार से है-

(1) जब हनुमानजी लंका-दहन करके लौट जाते हैं, तब मंदोदरी इस प्रकार से समझाती हैं-

रहसि जोरि कर पति पग लागी। बोली बचन नीति रस पागी॥
सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हें। हित न तुम्हार संभु अज कीन्हें॥ (5/36/5 तथा 10)

(2) जब श्रीरामजी समुद्र पर पुल बनाकर सेना सहित लंका में डेरा डाल देते हैं, तब मंदोदरी पुनः इस प्रकार रावण से विनती करती हैं-

मंदोदरीं सुन्यो प्रभु आयो। कौतुकहीं पाथोधि बँधायो॥ (6/6/2)

जेहिं बलि बाँधि सहसभुज मारा। सोइ अवतरेउ हरन महि भारा॥
तासु बिरोध न कीजिअ नाथा। काल करम जिव जाकें हाथा॥ (6/6/ 8-9)

रामहि सौंपि जानकी नाइ कमल पद माथ।
सुत कहुँ राज समर्पि बन जाइ भजिअ रघुनाथ॥ (6/6)

(3) जब श्रीरामजी ने रावण की रंगशाला में अपने एक तीर से, जो अदृश्य था, रंग में भंग करते हुए रावण के मुकुट और मंदोदरी के कर्णफूल गिरा दिए थे, तब भी मंदोदरी ने भगवान के विराट स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा कि-

अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान।
मनुज बास सचराचर रूप राम भगवान॥
अस बिचारि सुनु प्रानपति प्रभु सन बयरु बिहाइ।
प्रीति करहु रघुबीर पद मम अहिवात न जाइ॥ (6/15क तथा ख)

(4) जब श्रीरामजी के दूत के रूप में अंगद ने रावण की सभा में उसका मानमर्दन किया, तब उनके लौट जाने पर मंदोदरी अंतिम बार रावण को समझाते हुए कहती हैं-

कंत समुझि मन तजहु कुमतिही। सोह न समर तुम्हहि रघुपतिही॥ (6/36/1)

निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारिहि नाईं॥ (6/37/8)

दुइ सुत मरे दहेउ पुर अजहुँ पूर पिय देहु।
कृपासिंधु रघुनाथ भजि नाथ बिमल जसु लेहु॥ (6/37)

जो नारी पातिव्रतधर्म का दृढ़ता से पालन करती है उसे कोई भी डिगा नहीं सकता है। इसका उदाहरण श्रीरामचरितमानस में धनुष यज्ञ के प्रसंग में मिलता है। वहाँ पर द्वीप-द्वीप के राजा-महाराजा और यहाँ तक कि कपट वेश में

सुर-असुर भी उपस्थित थे, पर कोई भी धनुष को उठाना तो दूर, हिला तक नहीं सका। इस पर गोस्वामी तुलसीदासजी उपमा देते हैं कि धनुष इस प्रकार से नहीं डिग रहा है जैसे किसी कामी पुरुष के वचनों से एक सती का मन नहीं डिगता, यथा-

डगइ न संभु सरासनु कैसें। कामी बचन सती मनु जैसें॥ (1/251/2)

उत्तरकाण्ड में जब श्रीरामकथा समापन की ओर थी, गोस्वामी तुलसीदासजी उन देश-काल-मानवों आदि का विवरण देते हैं जो 'धन्य' कहलाने योग्य हैं। उसी श्रेणी में वह नारी भी है जो पातिव्रतधर्म पर आरूढ़ हो, यथा-

धन्य देस सो जहँ सुरसरी। धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी॥ (7/127/5)

वे नारियाँ धन्य हैं जो पातिव्रतधर्म का अनुसरण करती हैं और इसी से वे परम गति प्राप्त कर सकती हैं, उन्हें और कोई परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है। मानस के अनुसार-

बिनु श्रम नारि परम गति लहई। पतिब्रत धर्म छाड़ि छल गहई॥ (3/5/18)

भजिअ राम सब काम बिहाई

सृष्टि में चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हुए जीव को करुणामय परम प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से कभी न कभी मनुष्य योनि प्रदान करते हैं। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी।।
फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा।।
कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।। (7/44/4-6)

सभी योनियों में केवल मनुष्य योनि ही कर्म योनि है, जिसमें मानव नवीन कर्म करके अपना उद्धार कर सकता है, क्योंकि स्वयं के कर्तव्य के अलावा और दूसरा कोई साधन नहीं है। ईश्वर भी उन्हीं पर कृपा करते हैं, जो अपने कर्तव्य का पालन करते हुए निष्कपट भाव से उनका स्मरण करते हैं-

मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।। (1/200/6)

मन-वचन-कर्म से निष्कपट होकर व्यवहार करते हुए भगवत् भजन करना अत्यंत कठिन है, क्योंकि जन्म जन्मान्तर के कुसंस्कार यह नहीं करने देते हैं। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग में साधना के अलग-अलग मार्ग हैं, पर कलियुग में केवल 'हरि नाम' का ही सहारा है-

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू।। (1/27/7)
कलियुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधाार राम गुन गाना।।
सब भरोस तजि जो भज रामहि। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि।।
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं।। (7/103/5-7)

अब प्रश्न यह है कि भजन कैसे करें। समय ही नहीं है। पर विचारणीय तथ्य यह है कि भजन के लिए अलग से माला लेकर बैठने की आवश्यकता नहीं है, किंतु यदि प्रभु कृपा से ऐसा संयोग बन जाए तो सर्वोत्तम है। भजन मन से करना होता है और गोस्वामी तुलसीदास ने अपने अनुभव से और ईश्वर की प्रेरणा से हमें यह सूत्र दिया है कि चाहे भाव से हो, कुभाव से हो,

आलस्य और बिना मन के हो, तब भी ईश्वर-स्मरण सर्वत्र मंगलकारी है-

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥ (1/28/1)

इस प्रकार से यह तो स्पष्ट है कि भगवत् भजन, विशेषकर इस कलियुग में मंगलकारी है। फिर भी हम इस कल्याणकारी, भव-बंधन छुड़ाने वाले पुनीत कार्य में क्यों नहीं लगते। इसका प्रमुख कारण वह माया है जो हमें चौरासी लाख योनियों में घुमाती है। इसलिए मानव का ध्यान इस क्षणभंगुर नाशवान शरीर के लिए सुख सुविधाएँ जुटाने, अपना नाम कमाने, ख्याति प्राप्त करने और सम्पत्ति की वृद्धि में लगा रहता है। हम सोचते हैं कि बुढ़ापे में भजन करेंगे, पर बुढ़ापा किसने देखा और फिर बुढ़ापे में जब शरीर में कष्ट होगा तब भजन कैसे होगा। इसलिए हमें इस मानव शरीर के परम लक्ष्य को समझकर उसकी प्राप्ति हेतु सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। इस मानव शरीर की सफलता बहु सम्पत्ति और संतति पैदा करने, यश-कीर्ति प्राप्त करने में नहीं है। इसकी एकमात्र सफलता इसमें है कि सभी कामनाओं का त्याग करके भजन करें-

देह धरे कर यह फलु भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥ (4/23/6)

मानव शरीर कर्मयोनि है, अतः कर्म तो करना ही है, पर आसक्ति एवं कामनाओं का त्याग करते हुए कर्म करना श्रेष्ठ है और जब ऐसा करेंगे तभी सच्चे अर्थ में भजन हो सकेगा। यदि विषयों का चिंतन करेंगे तो उनमें आसक्ति हो जाएगी और फिर उनको प्राप्त करने में बाधा आने पर क्रोध उत्पन्न हो जाएगा और क्रोध से मूढ़भाव उत्पन्न होता है जिससे ज्ञानशक्ति का नाश होकर मानव का पतन हो जाता है। भगवान श्रीकृष्ण ने युद्ध न करने का संकल्प लेने वाले अर्जुन को इस प्रकार से समझाया था-

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषुपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधात्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥ (गीता-2/62-63)

इस प्रकार से 'मन' ही बंधन और मोक्ष का कारण है। श्रीरामजी को नागपाश में बँधे देखकर उत्पन्न हुए मोह के निवारणार्थ गरुड़जी जब काकभुशुण्डिजी के पास जाकर श्रीराम कथा सुनते हैं, तब उनका मोह दूर हो

जाता है। तदुपरांत काकभुशुण्डिजी उन्हें बताते हैं कि इस संसार में मनोरथ अर्थात् कामना ऐसा रोग है, जिससे विरले ही बच पाते हैं। धन-सम्पत्ति अर्जित करने, परिवार में वृद्धि करने और यश-कीर्ति प्राप्त करने की कामना से सभी की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है-

कीट मनोरथ दारु सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा॥
सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥ (7/71/5-6)

इसलिए मानव का परम कर्तव्य यह है कि संतोषवृत्ति अपनाएँ, क्योंकि बिना संतोष के कामनाएँ समाप्त नहीं होंगी और जब तक ये कामनाएँ रहेंगी, तब तक स्वप्न में भी सुख प्राप्त नहीं होगा। राम भजन के बिना कामनाएँ वैसे ही नहीं मिट सकतीं, जैसे कि बिना थल के पेड़ नहीं उग सकता।

बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥
राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥ (7/90/1-2)

इस प्रकार से यदि कामनाएँ नहीं मिट पा रही हैं तब भी भजन तो करते रहना चाहिए। राम भजन के प्रभाव से शनैः शनैः कामनाएँ समाप्त होती जाएँगी और तब फिर एक ही कामना रह जाएगी कि केवल प्रभु को चाहूँ अथवा उनकी चाह में अपनी चाह समझकर सुख-दुख द्वन्दों के ऊपर उठ जाऊँ। एक कवि ने लिखा है-

चाह यही इक मेरी भगवन् और चाह मिट जावे।
केवल तेरी चाह रहे बस एक चाह रह जावे॥

समस्त कामनाओं के त्याग के पश्चात् जो श्रीराम भक्ति में लीन हैं वे भी भजन नहीं छोड़ते हैं। वे नाम रूपी सुधा का निरंतर आस्वादन करते रहते हैं-

सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन।
नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन॥ (1/22)

ऐसे भक्तजन जिनकी कोई कामना न हो अर्थात् जिनको कभी कुछ न चाहिए और श्रीरामजी के प्रति जिनका सहज प्रेम है, उनके मन में श्रीरामजी सदा वास करें, यह महर्षि वाल्मीकि का कथन है-

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥ (2/131)

भजन करने का अर्थ सतत् भगवत् चिंतन है। भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध करते हुए हर समय उनका स्मरण करने का उपदेश दिया–

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।। (गीता 8/7)

भगवान शंकर ने पार्वतीजी को श्रीराम कथा सुनाते हुए अपना अनुभव बताया कि हरिभजन ही संसार में सत्य है बाकी सब तो सपने की तरह हैं–

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजनु जगत सब सपना।। (3/39/5)

गरुड़जी को श्रीराम कथा सुनाने के उपरांत काकभुशुण्डिजी भी अपना अनुभव बताते हैं कि बिना हरि भजन के जीवन के दुख अर्थात् जन्म–मरण का चक्र नहीं छूट सकता–

निज अनुभव अब कहउँ खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा।। (7/89/5)

भगवत् भजन का महत्त्व बताते हुए काकभुशुण्डिजी कहते हैं कि बिना भजन के मोक्ष प्राप्त करना उसी प्रकार से असंभव है जिस प्रकार बिना सूर्योदय के रात्रि का समाप्त होना। बिना हरि भजन के जीवन के क्लेश अर्थात् जन्म–मरण का चक्र भी मिटने वाला नहीं है–

राकापति षोड़स उअहिं तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि राति न जाइ।। (7/78ख)

स्वयं भगवान श्रीराम ने काकभुशुण्डिजी को बताया कि भक्ति विहीन ब्रह्मा भी मुझे अन्य जीवों के समान ही प्रिय हैं, किंतु मेरा भक्त मुझे अत्यंत प्रिय है चाहे वह किसी नीच योनि में ही हो।

भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई।।
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी।। (7/86/9–10)

ज्ञानी लोग मुक्ति के लिए अर्थात् जन्म–मरण के चक्र से छुटकारे हेतु साधना करते हैं, किन्तु वही मुक्ति बिना प्रयास के अनायास ही राम भजन से प्राप्त हो जाती है–

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद।।
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं।। (7/119/3–4)

श्रीराम कथा कथन, श्रवण, मनन-चिंतन ही राम भजन है और प्रेमपूर्वक मन लगाकर इसे कहने-सुनने एवं चिंतन से श्रीरामजी के प्रति अवश्य ही प्रेम उत्पन्न होगा, ऐसा गोस्वामी तुलसीदासजी ने शिवजी की साक्षी से घोषणा की है-

जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥
होइहहिं राम चरन अनुरागी। कलि मल रहित सुमंगल भागी॥ (1/15/10-11)

सपनेहुँ साचेहुँ मोहि पर जौं हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ॥ (1/15)

इस प्रकार से जब श्रीराम कथा से श्रीरामजी के चरण कमलों में अनुराग उत्पन्न हो जाएगा, तब फिर संसार के विषय भोग मन को न लुभा सकेंगे। फिर वे प्रिय नहीं लगेंगे।

राम चरन पंकज प्रिय जिन्हही। बिषय भोग बस करहिं कि तिन्हही॥ (2/84/8)

प्रेमी भक्त विंदु महाराज ने अपनी भजनमाला 'मोहन-मोहनी' में लिखा है कि चाहे करोड़ों उपाय कर लो, बिना प्रेम के मोहन मिलने वाला नहीं है-

मोहन प्रेम बिना नहिं मिलता चाहे कर लो कोट उपाय।
प्रेम बिंदु दृग से जब टपके तुरत प्रगट हो जाय॥

बिना प्रेम के भगवान नहीं मिल सकते। भगवत् भजन करने से भगवत् प्रेम जाग्रत होगा, जिससे जीवन का परम लक्ष्य भगवत् प्राप्ति होगी-

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥ (7/62/1)

अयोध्यावासियों को स्वयं अखिल ब्रह्माण्डनायक भगवान श्रीराम ने यह उपदेश दिया कि इस मानव शरीर का फल अर्थात् उद्देश्य विषय भोग नहीं है, क्योंकि स्वर्ग भी अल्प सुख के पश्चात् पुनः दुखदायी है-

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥ (7/44/1-2)

मानव जीवन की सार्थकता इसी में है कि हम समस्त कामनाओं का त्याग कर अपना कर्तव्य निर्वाह करते हुए भगवत् भजन में लीन हो जाएँ।

देह धरे कर यह फलु भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥ (4/23/5)

भक्त का सहज स्वभाव

भक्त का सहज स्वभाव ऐसा होता है कि जो भी परिस्थिति प्रभु देते हैं, उसी में वह प्रसन्न रहता है। दूसरी ओर भगवान भी ऐसे भक्त का ध्यान ठीक उसी तरह रखते हैं जैसे एक माँ अपने अबोध शिशु का ध्यान रखती है। कभी-कभी भक्त के कल्याणार्थ प्रभु ऐसी लीला रचते हैं जो उसकी इच्छा के विपरीत होती है और उसे कष्ट होता है, पर अंततः वही कल्याणकारी होती है। इस प्रकार भगवान भक्त की इच्छा पूर्ण करते हैं, किंतु वे यह भी ध्यान रखते हैं कि उसकी इच्छा पूर्ण करना उसके लिए कल्याणकारी है या अनर्थकारी। यदि भक्त की चाह पूर्ण करना हितकारी नहीं है तो फिर भगवान कुछ ऐसी लीला रचते हैं जो भक्त की चाह के विपरीत होने पर भी उसके लिए कल्याणकारी सिद्ध हो। नारदजी को काम विजय का अभिमान हो गया था, जिसे भगवान दूर करना चाहते थे-

करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गरब तरु भारी॥
बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी। पन हमार सेवक हितकारी॥ (1/129/4-5)

ऐसी स्थिति में फिर भक्त की रुचि और उसका पुरुषार्थ काम नहीं करता, फिर तो भगवान भक्त के कल्याणार्थ जो करना चाहते हैं, वही होता है, यथा-

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥ (1/128/1)

इस तथ्य का उल्लेख स्वयं श्रीरामजी पंपापुर सरोवर के तट पर नारदजी से करते हैं। वे कहते हैं कि मेरे भक्त नादान शिशु के समान होते हैं, जिनके कल्याण हेतु मैं उसी तरह सजग रहता हूँ और उसकी रक्षा करता हूँ जिस तरह एक माँ अपने नादान शिशु का पालन करती है। ज्ञानी लोग मेरे युवा पुत्र की तरह हैं, किंतु मेरे अमानी भक्त तो मेरे लिए नादान शिशु की तरह ही हैं-

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ (3/43/4)

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥ (3/43/5)

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ (3/43/8)

श्रीहनुमानजी का जब किष्किंधा पर्वत पर प्रथम बार श्रीरामजी से मिलन होता है, तब वे ब्राह्मण वेश में थे, इसीलिए श्रीरामजी ने उन्हें तब तक गले से नहीं लगाया, जब तक वे अपने असली रूप में नहीं आ गए। उस समय श्रीहनुमानजी ने कहा था कि जिस प्रकार एक शिशु अपनी माता के भरोसे रहता है, ठीक उसी प्रकार सेवक को अपने स्वामी का भरोसा होता है। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥
अस कहि परेउ चरन अकुलाई। निज तनु प्रगटि प्रीति उर छाई॥
तब रघुपति उठाइ उर लावा। निज लोचन जल सींचि जुड़ावा॥ (4/3/4-6)

सेवक की रुचि भगवान पूर्ण करते हैं, तो यह जानना भी आवश्यक है कि सेवक की परिभाषा क्या है। स्वयं श्रीरामजी इसे परिभाषित करते हैं, यथा-

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥ (7/43/5)

सेवक का एक और महत्त्वपूर्ण लक्षण है कि वह अपने स्वामी की इच्छा के विरुद्ध कभी नहीं जाता। स्वामी के हित में सेवक अपना हित समझता है। चित्रकूट प्रवास के दौरान श्रीरामजी को मनाने भरतजी के साथ कुलगुरु वसिष्ठजी तथा अन्य गणमान्य लोग जाते हैं। सभी इस प्रयास में हैं कि किसी तरह श्रीरामजी अयोध्या लौट चलें। किसी को कोई उपाय नहीं सूझता है, तब वे भरतजी की ओर देखते हैं। भरतजी का उत्तर देखिए-

बूझिअ मोहि उपाय अब सो सब मोर अभागु।
सुनि सनेहमय बचन गुर उर उमगा अनुरागु॥ (2/255)

भरतजी का उत्तर सुनकर वसिष्ठजी एक सुझाव देते हैं कि तुम और शत्रुघ्न दोनों भाई वन में रहो और श्रीराम, सीता और लक्ष्मण को हम अयोध्या लौटा ले जाते हैं। यह सुनकर भरतजी प्रसन्नता पूर्वक कहते हैं कि चौदह वर्ष क्या मैं जीवनपर्यन्त वन में वास करने को तैयार हूँ। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

कानन करउँ जनम भरि बासू। एहिं तें अधिक न मोर सुपासू॥ (2/256/8)

इसके पश्चात् सम्पूर्ण समाज श्रीरामजी के पास जाता है और विचार-विमर्श के दौरान श्रीरामजी घोषणा कर देते हैं कि जो भरत कहें, मैं वही करने को तैयार हूँ। भरतजी तो उन्हें मनाने आए ही थे, वे चाहते तो कह सकते थे कि आप अयोध्या लौट चलें, पर उन्होंने वही बात कही जो गुरु वसिष्ठजी ने सुझाई थी। उन्होंने कहा-

सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ॥ (2/268)

नतरु जाहिं बन तीनिउ भाई। बहुरिअ सीय सहित रघुराई॥
जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुना सागर कीजिअ सोई॥ (2/269/1-2)

भरतजी के इस प्रस्ताव पर श्रीरामजी मौन रहे। अब भरतजी कहते हैं कि हे स्वामी! जिसमें आपको संकोच न हो वही कीजिए। फिर भी श्रीरामजी मौन रहे, तब भरतजी ने कहा कि आप प्रसन्न मन से संकोच त्यागकर जो आज्ञा देंगे, सभी उसका पालन करेंगे। भरतजी के ऐसे वचन सुनकर देवगण हर्षित हुए, क्योंकि उन्हें लग रहा था कि यदि भरतजी श्रीरामजी को अयोध्या लौटने को कहेंगे, तो उनका बना बनाया काम बिगड़ जाएगा। अयोध्यावासी असमंजस में थे कि अब क्या होगा, श्रीरामजी का क्या आदेश होगा। विचार-विमर्श चल ही रहा था कि राजा जनक के आगमन की सूचना मिली, इस कारण वह सभा स्थगित हो गई।

अब राजा जनक के आने पर श्रीरामजी और अधिक संकोच में पड़ गए। वसिष्ठजी, जनकजी एवं सम्पूर्ण समाज विचार-विमर्श करता है कि किस तरह श्रीरामजी अयोध्या लौटें, किंतु जब कोई समाधान नहीं निकलता है, तब सभी पुनः भरतजी की ओर देखते हैं और भरतजी अब स्पष्ट शब्दों में अपना विचार रखते हैं। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवाधरमु कठिन जगु जाना॥
स्वामि धरम स्वारथहिं बिरोधू। बैरु अंध प्रेमहि न प्रबोधू॥ (2/293/7-8)

राखि राम रुख धरमु ब्रतु पराधीन मोहि जानि।
सब कें संमत सर्ब हित करिअ पेमु पहचानि॥ (2/293)

अर्थात् वेद-शास्त्र-पुराणों में सेवक का धर्म बहुत कठिन बताया गया है। जिस प्रकार किसी से दुश्मनी हो जाने पर वह व्यक्ति अंधा अर्थात् विवेकहीन हो जाता है और कुछ भी धर्म विरुद्ध कर सकता है और जिस प्रकार प्रेमीजन को केवल अपना प्रेमास्पद ही दिखाई देता है, फिर उसे कोई भी समझाए, उसे कुछ समझ में नहीं आता अर्थात् वह वही करेगा जो उसने ठान लिया है, इसी प्रकार स्वामी धर्म और निजी स्वार्थ में विरोध होता है। हम सबका निजी स्वार्थ तो यह है कि श्रीरामजी अयोध्या लौट चलें, किंतु मुझ सेवक का धर्म यह है कि उनको संकोच में न डालूँ, वे जैसा चाहें वैसा ही हो। इस प्रकार से मैं सेवक धर्म के कारण पराधीन हूँ, मैं श्रीरामजी को अयोध्या लौटने को नहीं कह सकता।

अंततः श्रीरामजी ने निर्णय लेते हुए कहा कि हे भरत! मैं चौदह वर्ष वन में रहूँगा और तुम अयोध्या का राज-पाट सँभालो। फिर श्रीरामजी ने उन्हें अपनी चरणपादुकाएँ दीं, जिसे भरतजी ने प्रसन्नता से शिरोधार्य किया और उनको ऐसा सुख प्राप्त हुआ मानो श्रीरामजी ही अयोध्या लौट रहे हों। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥ (2/316/4)

भरत मुदित अबलंब लहे तें। अस सुख जस सिय राम रहे तें॥ (2/316/8)

इस संदर्भ में एक कवि की यह प्रार्थना उल्लेखनीय है-

चाह यही इक मेरी भगवान और चाह मिट जावे।
केवल तेरी चाह रहे बस एक चाह रह जावे॥

कल्याण के आदि सम्पादक प्रातः स्मरणीय श्रीहनुमान प्रसाद पोद्दार ने भक्त के सहज स्वभाव के बारे में लिखा है-

प्रभु ने जो कुछ दिया परिस्थिति दी जैसी उसमें हित मान।
मंगलमय प्रभु का विधान यह सदुपयोग करो शुभ जान॥

इस प्रकार भक्त का यही सहज स्वभाव है कि उसकी अपनी कोई इच्छा ही न हो, बल्कि भगवान की इच्छा में ही अपना कल्याण समझे।

भरतजी का भक्ति भाव

'श्रीरामचरितमानस' ऐसा दिव्य ग्रन्थ है जिसकी ज्ञान-गहराई में जितनी बार उतरें कुछ न कुछ नवीन मिल जाता है। एक ही प्रसंग का बार-बार मनन करने पर नए-नए भाव उत्पन्न होते हैं। मानव जीवन का लक्ष्य अन्य जीवों की भाँति विषय भोग में ही जीवन बिता देना नहीं है, बल्कि अपना आत्म-कल्याण करना है। 'मानस' की इस चौपाई को देखिए-

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई।। (7/44/1)

जैसे संयोग और वियोग क्षणभंगुर हैं, वैसे ही सांसारिक सुख जो हमें प्राप्त हैं, क्षणभंगुर हैं, अतः सुख-दुख, लाभ-हानि, जीवन-मरण ये सब तो विधि के हाथ हो गए, यहाँ तक कि हमारे प्रयास भी उसी के हाथ में हैं, पर फिर भी कर्म की प्रधानता तो है ही। धन, मान, बड़ाई, पुत्र परिवार, आरोग्यता, वैभव इत्यादि सुखों की कामना तथा दुःखों के नाश की इच्छा इत्यादि इस जीवन का लक्ष्य नहीं है, अतः इस दुर्लभ मानव देह का लक्ष्य कुछ और ही है और वह है आत्म साक्षात्कार एवं भगवत् प्राप्ति। सर्वप्रथम हम अपना यह लक्ष्य निर्धारित करें कि इसी जीवन में परमात्मा की प्राप्ति करनी है। तत्पश्चात् साधन की खोज करनी है। इस हेतु प्रधानतः सभी शास्त्रों ने तीन मार्ग बतलाए हैं-कर्म, ज्ञान एवं भक्ति मार्ग। कर्म का स्थान सर्वप्रथम है जैसा कि गोस्वामीजी ने लिखा है-

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा।। (2/219/4)

निष्काम कर्म के द्वारा हम ईश्वर तक पहुँच सकते हैं, कर्म की साधना से भगवान के चरण बिन्दुओं का भान होता है, जिससे ज्ञान तक पहुँचते हैं। उस परम तत्व का ज्ञान होने पर ही सांसारिक विषयों से विरक्ति और प्रभु चरणों में अनुरक्ति प्राप्त होती है और अनुरक्ति ही हमारी भक्ति का प्रथम सोपान है, क्योंकि कर्म अन्य मार्गों में साधन रूप होने से उभयनिष्ठ है। ज्ञान-मार्ग कठिन और भक्ति-मार्ग सरल है, ऐसा मानस में सुस्पष्ट है, यथा-

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥ (7/45/3)

दूसरी ओर भक्ति-मार्ग सरल, सुगम बताया गया है, यथा-

सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥ (7/45/2)

इस प्रकार से यह निश्चित है कि मानव-जीवन का लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति है और इस हेतु भक्ति-मार्ग सुगम होने के कारण अपनाने योग्य है।

अब यह विचार करना है कि भक्ति कैसे की जाए? इसके लिए हम अपनी-अपनी रुचि के अनुसार 'मानस' के किसी भी पात्र का अनुसरण करके उनके अनुसार भक्ति मार्ग अपना सकते हैं। भक्ति मार्ग पर कदम रखने से पूर्व हमारे मन में परमात्मा के प्रति प्रेम जाग्रत होना आवश्यक है और वह प्रेम भी निःस्वार्थ भाव से निष्कपट होना चाहिए। ऐसा प्रेम श्रीभरतजी के चरित्र के श्रवण-मनन से निश्चित रूप से प्राप्त होता है। यथा-

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम वह पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥ (2/326)

इस प्रकार से हम भरतजी की भक्ति का अनुसरण करके सहज ही जीवन के परम लक्ष्य 'प्रभु की प्राप्ति' कर सकते हैं। भरत-चरित्र वर्णन करना, उसकी थाह पाना ठीक इसी प्रकार से है जैसे मच्छर का आकाश में उड़कर उसका छोर पाने का प्रयास। तथापि कुछ प्रसंग भरत-चरित्र के संदर्भ में यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं-

श्रीराम-वन गमन के पश्चात् श्रीभरतजी श्रीरामजी से मिलने चित्रकूट जाते हैं। मार्ग में श्रीभरद्वाजजी से भेंट के समय जो वार्तालाप करते हैं, उससे उनके आन्तरिक भाव उजागर होते हैं, श्रीभरतजी कहते हैं-

मोहि न मातु करतब कर सोचू। नहिं दुख जियँ जगु जानहिं पोचू॥
नाहिन डरु बिगरिहि परलोकू। पितहु मरन कर मोहि न सोकू॥ (2/211/4-5)

तब फिर उन्हें किस बात का महान कष्ट है, वे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं-

राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥ (2/211/8)

एहि दुख दाहँ दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती॥ (2/212/1)

इस प्रकार से भरतजी को अपने सुख वैभव तथा यश-अपयश का कोई

भान नहीं है। वे तो केवल अपने परम प्रभु 'श्रीराम' को सुखी देखना चाहते हैं। त्याग की यह सर्वोत्कृष्ट भावना है। यही नहीं चित्रकूट में जब श्रीरामजी स्वयं भरतजी से कहते हैं कि जैसी तुम्हारी इच्छा हो, कहो, मैं वैसा ही करूँगा। तब श्रीभरतजी यही कहते हैं-

अग्या सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जन पावै देवा॥ (2/301/4)

प्रभु चाह में ही हमारी प्रसन्नता एवं कल्याण निहित है, ऐसा सिद्धांत है भरतजी का। इस प्रसंग के अंत में सारांश स्वरूप श्रीभरतजी कहते हैं-

जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुना सागर कीजिए सोई॥ (2/269/2)

बस यही एक सीमा मानी जा सकती है भक्ति-मार्ग की कि जो हो रहा है प्रभु इच्छा से हो रहा है। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि हम आलसी बन जाएँ। हमें श्रीमद्भगवत्गीता का निम्नांकित सिद्धांत सदा आचरण में लाना पड़ेगा-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ (2/47)

इस प्रकार से भरतजी की भक्ति यही है कि अपना कर्त्तव्य ठीक प्रकार से संपादित करते हुए उसके फल से संतुष्ट रहते हुए प्रभु श्रीराम या अपनी रुचि के अनुसार परमात्मा के किसी भी स्वरूप का चिंतन, नाम, जप, स्मरण करना ही भक्ति है। इसके लिए न घर बार छोड़ने की आवश्यकता है और न कर्म पथ त्यागने की। छोड़ना है मन से विषय, भोगों के प्रति आसक्ति और यह भरत चरित्र श्रवण-मनन से अत्यन्त सुगम है। धीरे-धीरे हम विभिन्न आसक्तियों के धागे एक-एक करके जगत के प्राणी-पदार्थ से तोड़कर भगवान के पदकमलों में जोड़ दें, यही भक्ति भाव है। स्वयं श्रीरामजी के शब्दों में-

जननी जनक बंधु सुत द्वारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बर डोरी॥ (5/48/4-5)

इस प्रकार एक बार प्रभु के चरणों में अनन्य प्रेम हो जाने पर भवबंधन स्वतः कट जाते हैं और इसी जन्म में श्रीभरतजी के चरित्र श्रवण से जीवन का परम लक्ष्य भगवत् साक्षात्कार संभव हो जाएगा।

भजत कृपा करहहिं रघुराई

गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा ईश्वरीय प्रेरणा से रचित 'श्रीरामचरितमानस' एक दिव्य महाकाव्य है। इसके श्रवण मात्र से जीव का परम कल्याण निश्चित है। इस महाकाव्य में प्रत्येक चौपाई, दोहे, सोरठे, छंद, श्लोक सभी में अखिल ब्रह्माण्डनायक भगवान श्रीराम के नाम के बीजाक्षर 'र' और 'म' का समावेश है, इसीलिए ग्रन्थ के प्रारंभ में ही लिखा है कि इसमें श्रीरामजी का उदार नाम 'राम' है-

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥ (1/10/1)

इस प्रकार से श्रीरामनाममय होने के कारण 'श्रीरामचरितमानस' श्रीरामजी का ग्रन्थावतार है, ठीक उसी तरह जैसे श्रीमद्भागवत् भगवान श्रीकृष्ण का ग्रन्थावतार माना जाता है। मन लगाकर श्रीरामचरितमानस के श्रवणमात्र से संसृति क्लेश दूर होता है, ऐसा संतों का दृढ़ विश्वास है। सुनने का विशेष महत्त्व है। यह प्राकृतिक नियम है कि जो कुछ हम मुख से ग्रहण करते हैं वह अपान वायु के द्वारा निकलता है और जो हम कानों से ग्रहण करते हैं वह मुख से निकलता है। कानों से भगवान के गुणगान सुनने से जब मुख से वही निकलेंगे तो जीवन धन्य हो जाएगा। श्रीरामचरितमानस के चार वक्ता-श्रोता हैं-गोस्वामी तुलसीदासजी अपने मन को सुनाते हैं, याज्ञवल्क्यजी मुनि भरद्वाज को, शिवजी पार्वतीजी को और काकभुशुण्डिजी पक्षिराज गरुड़जी को यह कथा सुनाते हुए कथा श्रवण पर विशेष जोर देते हैं। श्रीरामचरितमानस में यह वर्णन क्रमशः इस प्रकार से है-

तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि संतत सठ मना॥ (5/60/छंद)

तात सुनहु सादर मनु लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई॥ (/47/5)

सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल।
कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहग नायक गरुड़॥ (1/120ख)

सुनु खगपति यह कथा पावनी। त्रिबिध ताप भव भय दावनी।। (7/15/1)

स्वयं भगवान श्रीराम ने भक्तमती शबरी को नवधा भक्ति बताते हुए कहा कि मेरे कथा-प्रसंग में रति रखना अर्थात् अत्यंत गूढ़ प्रेम रखना मेरी दूसरी प्रकार की भक्ति है-

प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।। (3/35/8)

महर्षि वाल्मीकिजी ने श्रीरामजी के लिए जो 14 निवास स्थान बताए, उनमें से प्रथम स्थान उसका मन बताया है, जिनके कान रूपी समुद्र भगवत्कथा रूपी सरिताओं से कभी भरते ही नहीं-

जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना।।
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे। तिन्ह के हिए तुम्ह कहुँ गृह रूरे।। (2/128/4-5)

सम्पूर्ण श्रीराम कथा के पश्चात् तुलसीदासजी लिखते हैं कि जिन्हें रामचरित सुनने से तृप्ति हो जाए तो समझिए उन्होंने उसका 'रस' विशेष जाना (चखा) ही नहीं।

राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं।। (7/53/1)

इस प्रकार से श्रीरामचरितमानस (श्रीराम कथा) सुनने का विशेष महत्त्व है, पर यह कथा कैसे सुनी जाए, इस संबंध में स्वयं श्रीरामजी पंचवटी में लक्ष्मणजी को समझाते हुए कहते हैं कि ज्ञान, भक्ति और वैराग्य को मैं संक्षिप्त में तुम्हें समझा रहा हूँ, तुम 'मन-बुद्धि-चित्त' लगाकर सुनो-

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई।। (3/15/1)

मन लगाकर कथा श्रवण की बात भगवान शंकर भी पार्वतीजी से उस समय कहते हैं जब वे उन्हें पूरी रामकथा (काकभुशुण्डि-गरुड़ संवाद सहित) सुना चुके थे। वे कहते हैं कि मन लगाकर कथा श्रवण करने से मन-वचन-कर्म से किए गए सभी पाप नष्ट हो जाते हैं-

मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई।। (7/126/3)

अब प्रश्न यह उठता है कि हम कलियुगी जीव माया ग्रस्त हैं। हमारे चारों ओर पापाचार का वातावरण है, हम मन-बुद्धि-चित्त को एकाग्र करके कैसे कथा सुनें। इसका समाधान 'मानस' के प्रारंभ में ही कर दिया गया है। यदि

मन नहीं लगता है तो बुद्धि और चित्त तो उसके ऊपर की स्थिति है। फिर चिन्ता की कोई बात नहीं है। बस केवल प्रेमपूर्वक (स्नेह से) कहने, सुनने और समझने से काम बन जाएगा, क्योंकि प्रेमपूर्वक अभ्यास करने से चित्त में भी कथा बैठने लगेगी। इससे अनुराग पैदा हो जाएगा और तब फिर भगवत्प्राप्ति में विलंब नहीं होगा। 'मानस' के अनुसार-

जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता।।
होइहहिं राम चरन अनुरागी। कलि मल रहित सुमंल भागी।। (1/15/10-11)

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा।। (7/62/1)

अब प्रश्न यह है कि वह प्रेम कैसे प्राप्त हो कि 'मानस' में मन रम सके। इसके लिए एकमात्र साधन है 'भगवत्कृपा'।

अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहिं मारग सोई।। (7/129/4)

अब यह विचारणीय है कि ईश्वर की कृपा कैसे प्राप्त हो। इसका सुगम साधन गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीराम जन्म के प्रसंग के पश्चात् इस प्रकार लिखते हैं-

मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।। (1/200/6)

भजन करने से भगवान कृपा करते हैं यह तो स्पष्ट है, पर कृपा किस प्रकार भजन करने से करते हैं, यह जानना आवश्यक है। जब हम मन-वचन-कर्म से सभी प्रकार की चतुराई अर्थात् सयानापन (छल कपट) छोड़कर भजन करते हैं, तभी उनकी कृपा प्राप्त होती है। विचारणीय यह है कि क्या भगवान कृपा करने में भेदभाव करते हैं। नहीं, ऐसा नहीं है वे सभी जीवों पर समान रूप से ठीक उसी प्रकार कृपा करते हैं जिस प्रकार सूर्य सभी को समरूप से प्रकाश देते हैं, पर यदि कोई बंद कमरे में बैठ जाए और कहे कि मुझे सूर्य का प्रकाश नहीं मिल रहा है तो इसमें सूर्य का क्या दोष है। कभी-कभी बंद कमरे में भी खिड़की के छोटे से छेद में से हल्की सी सूर्य की रोशनी आती है बस ऐसे ही हम उस कृपानिधि भगवान की कृपा का इतना ही अनुभव कभी-कभी कर पाते हैं। जब हमारी रुचि के अनुरूप काम बन जाता है, तब कहते हैं कि भगवान की कृपा है और जब अपनी रुचि के विपरीत कार्य हो जाता है तो कहते हैं कि भगवान की हम पर कृपा ही नहीं है। यदि जो कुछ

हो रहा है हम उसे प्रभु इच्छा समझकर व्यवहार करें तो समझिए कि हम प्रभु कृपा का अनुभव कर रहे हैं।

भगवत्कृपा के संबंध में एक और विशेष बात यह है कि जब हम अनन्य भाव से परमात्मा के शरणागत हो जाते हैं, तब उनकी अपार कृपा का अनुभव होता है। भगवान समदर्शी होते हुए भी ऐसे भक्तों पर विशेष कृपा करते हैं। प्रथम मिलन में ही किष्किंधा पर्वत पर भगवान श्रीराम हनुमानजी से यही कहते हैं-

समदरसी मोहि कह सब कोऊ। सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ॥ (4/3/8)

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥ (4/3)

ईश्वर की कृपा प्राप्त करने हेतु मन-वचन-कर्म से चतुराई अर्थात् छल-कपट छोड़ने के परिप्रेक्ष्य में एक दृष्टांत उल्लेखनीय है। एक पागलखाने के डॉक्टर ने एक बार मरीजों का परीक्षण करने हेतु एक बाल्टी देकर उनसे बारी-बारी से हैन्ड पम्प से पानी भरने के लिए कहा। कई मरीज हैंड पम्प चलाते-चलाते पसीने से लथ-पथ हो गए, पर बाल्टी भरने का नाम न ले। उन सभी को अन्दर भेज दिया गया कि तुम्हें कुछ दिन और अस्पताल में रहना पड़ेगा। तत्पश्चात् एक और मरीज आया, उसने दो-चार बार हैंड पम्प चलाया तो देखा कि बाल्टी में पानी टिकता ही नहीं। उसने अपने दिमाग पर जोर डाला और बाल्टी को उठाकर देखा तो उसमें पैंदा ही नहीं था। वह दौड़ा-दौड़ा डॉक्टर साहब के पास गया और बोला कि जब बाल्टी में पैंदा ही नहीं है तब उसमें पानी कैसे रुकेगा। इस दृष्टांत में यह सिद्धांत छिपा है कि हम भजन तो करते हैं, पर व्यवहार में यदि किसी के साथ चतुराई अर्थात् छल-कपट करते हैं तो हमारा भी वही हाल होता है जो बिन पैंदे की बाल्टी में पानी भरने से होता है।

कलियुग का वर्णन करते हुए काकभुशुण्डिजी गरुड़जी से कहते हैं कि वही सयाना (चतुर) माना जाता है, जो येन-केन प्रकारेण दूसरे का हक छीनकर धन इकट्ठा कर ले।

सोइ सयान जो परधन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥ (7/98/5)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमें अपने व्यवहार में निष्कपटता लाकर भजन करना होगा, क्योंकि भगवान को छल-कपट पसंद नहीं है। सुग्रीव से भगवान स्पष्ट रूप से ऐसा कहते हैं, विभीषणजी की शरणागति के संदर्भ में-

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥ (5/44/5)

अब विचार यह करना है कि यदि निर्मल मन नहीं भी हुआ तो क्या भजन छोड़ दें। नहीं, भजन यदि हठपूर्वक भी चलता रहे, बिना मन के भी चलता रहे तो उसके प्रताप से व्यवहार शुद्ध होने लगेगा। श्रीराम नाम की महिमा का वर्णन करने के पश्चात् गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं कि चाहे भावपूर्वक हो, कुभाव से हो, आलस्य आदि से भी हो, भगवान का भजन (नाम जप) दशों दिशाओं में मंगलकारी होता है-

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥ (1/28/1)

इस कलियुग में तो भजन के अलावा और कोई दूसरा साधन ही नहीं है। श्रीरामचरितमानस के अंत में सारांश स्वरूप इस प्रकार से लिखा है-

एहिं कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा॥
रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥ (7/130/5-6)

यही बात काकभुशुण्डिजी कलियुग का वर्णन करते समय गरुड़जी से कहते हैं-

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥ (7/103क)

श्रीरामचरितमानस में विभिन्न प्रसंगों में श्रीरामजी की कृपा प्राप्त करने के उपाय बताए गए हैं, उन सब में सिद्धांत रूप से यही तथ्य प्रकट होता है कि विश्वासपूर्वक, श्रद्धाभाव से, छल-कपट छोड़कर भजन करने से कृपा का अनुभव होता है। कुछ प्रसंग इस प्रकार से हैं-

1. भगवान जिसे अपना 'जन' जानते हैं उसके हृदय में सरस्वतीजी को नचा देते हैं तभी वह उनके गुणगान करने में समर्थ हो पाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी को भी अपना 'जन' जानकर प्रेरणा दी जिससे उन्होंने श्रीरामचरितमानस जैसा दिव्य ग्रंथ रचा।

जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहि बानी॥ (1/105/6)

यहाँ 'जन' शब्द का अर्थ उस भक्त से है जो पूर्णतया भगवत् शरण में है। यह बात स्वयं भगवान श्रीराम ने नारदजी से पंपासर सरोवर पर कही है। ज्ञानी और भक्त का अंतर बताते हुए श्रीरामजी कहते हैं कि ज्ञानी में तो माया से संघर्ष करने के लिए अपना बल होता है, पर 'जन' अर्थात् भक्त में तो सब प्रकार से केवल मेरा ही बल है।

जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥ (3/43/9)

2. पंचवटी में श्रीरामजी ज्ञान-वैराग्य और भक्ति की विवेचना करते हुए श्रीलक्ष्मणजी से कहते हैं कि हे तात! मेरी भक्ति अनुपम सुख की मूल (जड़) है, पर वह तभी मिलती है जब कोई संत अनुकूल हो।

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥ (3/16/4)

संत मिलन कैसे हो यह तो प्रभु श्रीरामजी की कृपा पर आश्रित है, यह तथ्य सभी वेद-पुराण-शास्त्रों में वर्णित है, ऐसा काकभुशुण्डिजी से श्रीराम कथा श्रवणोपरान्त गरुड़जी कहते हैं-

निगमागम पुरान मत एहा। कहहिं सिद्ध मुनि नहिं संदेहा॥
संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥ (7/69/6-7)

3. सम्पूर्ण श्रीराम कथा एवं अपनी आत्मकथा तथा अपने अनुभवों का वर्णन करने के पश्चात् काकभुशुण्डिजी कहते हैं कि भक्ति प्राप्ति का रहस्य 'राम कृपा' ही है, क्योंकि उनकी कृपा के बिना उनकी प्रभुता समझ में नहीं आती, प्रभुता के जाने बिना प्रेम नहीं हो सकता और प्रेम के बिना भक्ति दृढ़ नहीं हो सकती।

राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥
जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥ (7/89/6-8)

यही तथ्य महर्षि वाल्मीकिजी ने स्वयं श्रीरामजी से कहा है। वे कहते हैं कि आपको वही जान सकता है, जिसे आप जनाना चाहें और आपको जानने के बाद वह 'आप' ही हो जाता है अर्थात् अपने स्वरूप को समझकर

भगवन्मय हो जाता है। यह सब आपकी कृपा से होता है।

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।।
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन।। (2/127/3-4)

4. भगवान शंकर कुंभज ऋषि के आश्रम में राम कथा सुनने सतीजी के साथ जाते हैं, पर सतीजी मन से कथा नहीं सुनती हैं। इस कारण उनको मोह हो जाता है और सीताजी का वेश धारण करके श्रीरामजी की परीक्षा लेती हैं। इससे शिवजी उनका मानसिक त्याग कर देते हैं। इस व्यथा को लिए हुए सतीजी अपने पिता के घर जाती हैं और वहाँ यज्ञ में शिवजी का अपमान देखकर अपना शरीर भस्म कर लेती हैं। पार्वती के रूप में शिवजी को पाने के लिए वे कठोर तप करती हैं और उनसे विवाहोपरान्त श्रीराम कथा के संबंध में श्रद्धाभाव से प्रश्न करती हैं। अब उनको यह विश्वास तो हो गया है कि अखिल ब्रह्माण्डनायक ब्रह्म ने श्रीराम के रूप में अवतार लिया, पर वे जानना चाहती हैं कि इसका हेतु क्या है? शिवजी उनके प्रश्नों का उत्तर देने से पूर्व उनको आश्वस्त करते हैं कि अब श्रीरामजी की कृपा से तुम्हारे मन में कोई संदेह नहीं है।

राम कृपा तें पारबति सपनेहुँ तव मन माहिं।
सोक मोह संदेह भ्रम मम बिचार कछु नाहिं।। (1/112)

अपने सभी प्रश्नों के उत्तर स्वरूप सम्पूर्ण श्रीराम कथा श्रवणोपरान्त पार्वतीजी शंकरजी से कहती हैं कि आपकी कृपा से मेरा संदेह दूर हो गया और अब श्रीराम के चरणों में नूतन प्रीति जाग्रत हुई है।

सुनि सब कथा हृदय अति भाई। गिरिजा बोली गिरा सुहाई।।
नाथ कृपाँ मम गत संदेहा। राम चरन उपजेउ नव नेहा।। (7/129/7-8)

5. मानस रोगों का वर्णन करते हुए काकभुशुण्डिजी गरुड़जी को बताते हैं कि इनसे सभी लोग दुखी हैं। इनको दूर करके मानसिक स्वास्थ्य लाभ का केवल एक ही उपाय है कि सद्गुरु रूपी वैद्य से भक्ति रूपी संजीवनी दवा प्राप्त करे, श्रद्धा भाव से सेवन किया जाए और इसमें संयम यही है कि विषयों के प्रति कोई आशा न रहे, पर यह सब संयोग केवल श्रीरामजी की कृपा से ही संभव है।

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा। जौं एहि भाँति बनै संजोगा।।
सदगुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा।।
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी।।
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं।। (7/122/5-8)

6. नारद-मोह के प्रसंग में जब नारदजी माया मुक्त हो जाते हैं, तब भगवानजी से कहते हैं कि मैंने आपको बहुत दुर्वचन कहे हैं। हे प्रभु! मेरे ये पाप कैसे मिटेंगे? तब भगवान उन्हें समझाते हुए कहते हैं कि जिस पर शिवजी कृपा नहीं करते वह मेरी भक्ति नहीं पा सकता, अतः तुम शिवजी का 'सतनाम' जपो तुम्हें शान्ति प्राप्त होगी और अब मेरी माया तुम्हारे पास भी न फटकेगी।

मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहिं किमि मेरे।।
जपहु जाइ संकर सत नामा। होइहि हृदयँ तुरत बिश्रामा।।
कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। असि परतीति तजहु जनि भोरें।। (1/138/4-6)
अस उर धरि महि बिचरहु जाई। अब न तुम्हहिं माया निअराई।। (1/138/8)

7. बालि-वध के पश्चात् वानरराज सुग्रीव राज्य पाकर भोग विलास में इतने डूब गए कि सीताजी की खोज कराना ही भूल गए। तब श्रीरामजी को क्रोध आ गया, पर लक्ष्मणजी को भेजते हुए कहा **'भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव'।।** (4/18), श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामाज्ञानुसार सुग्रीव को लाते हैं। तब सुग्रीव विनती करते हैं कि हे प्रभु आपकी माया बड़ी प्रबल है। वह आपकी दया से ही छूट सकती है। जिसे नारि नयन-बाण नहीं लगा, जो क्रोध रूपी घोर अंधकारमय रात्रि में जागता है और लोभ के फंदे में नहीं फँसा है, वह मनुष्य आपके ही समान है, पर यह साधन साध्य नहीं है, आपकी कृपा से ही कोई-कोई पाता है।

अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया।।
बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पावँर पसु कपि अति कामी।।
नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा।।
लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया।।
यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हारी कृपाँ पाव कोइ कोई।। (4/21/2-6)

इस प्रकार से कल्याणकारी भगवद्भक्ति की प्राप्ति साधन साध्य न होकर भगवत्कृपा पर आश्रित है और भगवत्कृपा उनका भजन करने से, वह भी निष्कपटता से भजन करने पर प्राप्त होती है, अतः एकमात्र साधन भगवत् शरणागति ही है। भगवान स्वयं कहते हैं कि हे नारद! जो अन्य सभी भरोसों को त्याग कर मेरा हो जाता है उसकी रखवाली मैं ठीक उसी प्रकार से करता हूँ, जैसे एक माँ अबोध शिशु का ध्यान रखती है।

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।।
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।। (3/43/4-5)

एक अबोध शिशु अपने आपको स्वच्छ नहीं रख सकता है। यह दायित्व उसकी माँ का है। इसी प्रकार हम निष्कपट-निर्मल मन अपने प्रयासों से नहीं बन सकते हैं। जब हम अबोध शिशु की तरह परमात्मा की शरण हो जाएँगे तब वे स्वयं जैसा उचित समझेंगे, करेंगे। उस स्थिति में हमारा यह कर्त्तव्य होगा।

प्रभु ने जो कुछ दिया परिस्थिति दी जैसी उसमें हित मान।
मंगलमय प्रभु का विधान यह सद् उपयोग करो शुभ जान।।

(कल्याण के आदि संपादक प्रातः स्मरणीय श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार द्वारा रचित)

श्रीमद्भगवत्गीता में यही तत्व भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन! संपूर्ण धर्मों को अर्थात् संपूर्ण कर्मों के आश्रय को त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान, सर्वाधार परमेश्वर की शरण में आ जा। मैं तुझे संपूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। (18/66)

इस प्रकार हमें सदैव भगवत्शरण में रहते हुए भजन करना चाहिए।

मन मुसुकाहिं रामु सुनि बानी

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान ने अपने व्यवहार से अधिकांश प्रसंगों में यह चरितार्थ करके दिखाया कि सामान्य जन भी उनके आचरण से शिक्षा ग्रहण करके मानव से महामानव बन सकता है। बहुत ही कम प्रसंगों में उन्होंने भगवत्ता दर्शायी है, जबकि लीलापुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण ने जन्म से ही चमत्कार दिखाया है। कब किसके साथ कैसा व्यवहार करना है, विशेषकर अपने से वरिष्ठ और गुरुजनों के समक्ष किस प्रकार से बोलना है, यह श्रीरामजी के व्यवहार से ज्ञात होता है। कब संकेत देने के उद्देश्य से मन ही मन मुस्कराना है, कब प्रत्यक्ष रूप से मुस्कराना है, यह भी श्रीरामजी का अनुकरणीय आदर्श है। उल्लेखनीय है कि त्रेता युग में अखिल ब्रह्माण्डनायक भगवान श्रीराम ने जो मानव चरित्र चरितार्थ किया है, वही अनुकरणीय है, पर उन्हीं प्रभु ने द्वापर युग में भगवान श्रीकृष्ण के रूप में श्रीमद्भगवद्गीता में या अन्य प्रसंगों में जो उपदेश दिए हैं, वे ही अनुकरणीय हैं। लीलाएँ तो उन्होंने अपने भक्तों को परमानंद प्रदान करने के लिए की हैं, वे अनुकरणीय न होकर भक्तिभाव प्राप्त करने हेतु हैं। इस परिप्रेक्ष्य में किस प्रसंग में कब किसके साथ किस प्रकार का व्यवहार मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीराम ने मुस्करा कर संकेत रूप में किया है, इसके कुछ उदाहरण श्रीरामचरितमानस में इस प्रकार से वर्णित हैं-

1. मन मुसुकाहिं रामु सुनि बानी

मुनि विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा में मारीच को सौ योजन दूर समुद्र तट पर फेंकने और सुबाहु का संहार करने के पश्चात् धनुष-यज्ञ का निमंत्रण पाकर श्रीराम-लक्ष्मण के साथ मुनि विश्वामित्र जनकपुर पहुँचे और उनकी इच्छानुसार एक आम्रवाटिका में डेरा डाल दिया। राजा जनक यह समाचार सुनते ही उनके स्वागतार्थ आए और श्रीराम-लक्ष्मण को देखकर स्तब्ध रह गए। उन्होंने कहा कि इन दोनों बालकों को देखकर उनका सहज ही वैराग्यमय मन बरबस ही

ब्रह्मसुख को त्यागकर इस प्रकार से मोहित हो रहा है, जैसे चंद्रमा को देखकर चकोर। इसलिए पूछ रहा हूँ कि ये कौन हैं, आप सच-सच बताइएगा, यथा-

सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥ (1/216/3-5)

यह सुनकर मुनि विश्वामित्र उनका परिचय देते हुए कहते हैं कि राजन! आपने सत्य ही कहा है, जहाँ तक प्राणिमात्र का संबंध है ये सभी को इसी प्रकार से प्रिय हैं। श्रीरामजी समझ गए कि अब मुनि महाराज रहस्योद्घाटन करने वाले हैं। मेरा यह अवतार तो गुप्त रूप से है। इस तथ्य को अगस्त्य ऋषि से श्रीराम कथा श्रवण करने के पश्चात् लौटते हुए मार्ग में श्रीरामजी की विरह-लीला देखकर शिवजी ने इस प्रकार से प्रकट किया था:-

हृदयँ बिचारत जात हर केहि बिधि दरसनु होइ।
गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सबु कोइ॥ (1/48क)

मुनि विश्वामित्रजी इस रहस्य को प्रकट न कर दें, इस हेतु संकेतस्वरूप श्रीरामजी मुनिजी की ओर देखकर मन ही मन मुस्कराने लगे, यथा-

ए प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी। मन मुसुकाहिं रामु सुनि बानी॥ (1/216/7)

श्रीरामजी के संकेत को समझकर मुनि विश्वामित्र ने केवल यही परिचय दिया कि ये दोनों महाराज दशरथ के पुत्र राम-लक्ष्मण हैं, उन्होंने मेरे यज्ञ की रक्षा हेतु इन्हें भेजा है।

2. परम बिनीत सकुचि मुसुकाई

महाराज जनक श्रीराम-लक्ष्मण के साथ मुनि विश्वामित्र को अपने महल में ले जाते हैं। वहाँ दोपहर को भोजन-विश्राम के पश्चात् श्री लक्ष्मणजी जनकपुर देखना चाहते हैं, पर कुछ कहते नहीं, मन ही मन मुस्करा रहे हैं। श्रीरामजी उनके मन की बात समझ जाते हैं और गुरु विश्वामित्रजी से उनकी आज्ञा पाकर बड़े संकोच से परम विनम्रतापूर्वक मुस्करा कर इस बात को इस प्रकार से कहते हैं, यथा-

राम अनुज मन की गति जानी। भगत बछलता हियँ हुलसानी।।
परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुर अनुसासन पाई।।
नाथ लखनु पुरु देखन चहहीं। प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं।।
जौं राउर आयसु मैं पावौं। नगर देखाइ तुरत लै आवौं।। (1/218/3-6)

इस प्रकार बड़ी ही विनम्रता से गुरु-आज्ञा पाकर दोनों भाई जनकपुर देखने चले गए। लौटने में थोड़ा सा विलम्ब हो गया, ऐसा समझकर श्रीरामजी कुछ डरे हुए से, अत्यंत संकोच से, प्रेम सहित विनम्रतापूर्वक गुरु चरणकमलों में सिर झुकाकर, आज्ञा पाकर बैठ गए, यथा-

सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।
गुर पद पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ।। (1/225)

श्रीरामजी का आदर, प्रेम और विनम्रता का यह उदाहरण सर्वोपरि है।

3. मन मुसुकाहिं रामु सिर नाएँ

जनकपुर में धनुष-भंग के पश्चात् उसकी विश्वव्यापी तीव्र ध्वनि सुनकर महेन्द्र गिरि पर तप कर रहे परशुरामजी का ध्यान भंग हो गया और वे तुरंत आयोजन स्थल, जनकपुर आ धमके। राजा जनक, मुनि विश्वामित्र आदि से उग्र भाव से ही मिलने की औपचारिकता पूर्ण करते हुए रोषपूर्ण वाणी में बोले कि अरे जनक! बता शिव धनुष किसने तोड़ा है? जब किसी ने कोई उत्तर न दिया, तब श्रीरामजी ने बड़ी ही शान्त-गम्भीर भावमुद्रा में उनसे सम्वाद प्रारंभ किया, पर लक्ष्मणजी इस वार्ता में बीच में ही कूद पड़े। बहुत नोक-झोंक होने पर परशुरामजी को इतना क्रोधित कर दिया कि वे श्रीरामजी को युद्ध के लिए ललकारने लगे और उनके ऊपर अपना फरसा उठाकर अनाप-शनाप वार्ता करने लगे, पर श्रीरामजी उनके समक्ष सिर झुकाए मन ही मन मुस्करा रहे हैं, यथा-

भृगुपति बकहिं कुठार उठाएँ। मन मुसुकाहिं रामु सिर नाएँ। (1/281/4)

इस समय श्रीरामजी मुस्करा कर मानो परशुरामजी को संकेत कर रहे हैं कि श्रीमान्जी बहुत हो गया, अब तो वास्तविकता को समझ लीजिए।

4. रामु मनहिं मुसुकाहिं

श्रीरामजी अपने सभी भाइयों के साथ विवाह के उपरान्त जब अयोध्या के राजभवन में जाते हैं, तब तीनों माताएँ लोकरीति के अनुसार वर-दुल्हनों के साथ व्यवहार करती हैं, उनकी आरती उतारती हैं। इससे चारों दूल्हा-दुल्हन संकोच में पड़ जाते हैं, पर श्रीरामजी इतना अत्यधिक मोद-विनोद देखकर मन ही मन मुस्कराते हैं, यथा-

लोक रीति जननीं करहिं बर दुलहिनि सकुचाहिं।
मोदु बिनोदु बिलोकि बड़ रामु मनहिं मुसुकाहिं॥ (1/350ख)

श्रीरामजी मन ही मन मुस्करा कर माताओं को मानो भविष्य का संकेत कर रहे हैं।

5. मन मुसुकाइ भानुकुल भानू

अपने चारों पुत्रों के विवाह के उपरान्त महाराज दशरथ बड़े आनन्द में थे, पर एक दिन उन्होंने कानों के समीप अपने सफेद बाल देखे। इससे उनके मन में विचार आया कि अब मेरा वृद्धापन मानो उपदेश दे रहा है कि 'राम' को राज्यभार सौंपकर शेष जीवन आत्म कल्याणार्थ बिताओ। वे तुरंत गुरु वसिष्ठजी के पास गए और अपना मन्तव्य सुनाया। गुरुजी ने सहमति व्यक्त करते हुए मुहूर्त के नाम पर यह कहा-

बेगि बिलंबु न करिअ नृप साजिअ सबुइ समाजु।
सुदिन सुमंगलु तबहिं जब रामु होहिं जुबराजु॥ (2/4)

यह सुनकर दूसरे ही दिन राज्याभिषेक की तैयारी होने लगी, यद्यपि भरत-शत्रुघ्न उस समय अपनी ननिहाल में थे। इधर देवतागण व्याकुल थे कि रावण का संहार कैसे होगा। यह तभी संभव है जब रामजी का वन-गमन हो। इस कार्य के लिए सरस्वतीजी की सहायता से मंथरा की बुद्धि भ्रमित कर दी गई और उसने महारानी कैकेयी को भी भ्रम में डालकर उनके मन में ही सौतिया डाह उत्पन्न कर उन्हें प्रेरित किया कि महाराज से आज रात में ही उनके द्वारा प्रदत्त अपने दो वरदान इस प्रकार से माँग लो-

सुतहि राजु रामहि बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥ (2/22/6)

महाराज दशरथ संध्या समय आनंदपूर्वक कैकेयी के महल में गए, पर

कोप भवन की बात सुनकर चौंक जाते हैं। महारानी कैकेयी को मनाते हुए श्रीरामजी की शपथ लेकर कहते हैं कि जो माँगो दूँगा। कैकेयी अपने पुत्र भरत को राजतिलक और श्रीराम को चौदह वर्ष का वनवास माँग लेती हैं। सच्ची बात समझकर महाराज दशरथ मूर्छित होकर गिर पड़ते हैं और पूरी रात 'राम-राम' रटते रहे। प्रातःकाल जब महाराज महल से बाहर नहीं आए, तब मंत्री सुमंत्र उनके पास जाते हैं और महाराज की दशा देखकर समझ जाते हैं कि कुछ गड़बड़ हो गई है। कैकेयी के कहने पर और महाराज की सम्मति समझकर वे श्रीरामजी को बुलाकर उस कक्ष में आते हैं। श्रीरामजी पिताश्री की हालत देखकर माँ कैकेयी से इसका कारण पूछते हैं। उन्हें पूरी बात बता दी जाती है, तब श्रीरामजी मन ही मन मुस्कराते हैं, यथा-

मन मुसुकाइ भानुकुल भानू। रामु सहज आनंद निधानू॥ (2/41/5)

6. सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने

माता कैकेयी द्वारा महाराज दशरथ से अपनी थाती के रूप में रखे दो वरदान (एक से भरत को राजतिलक और दूसरे से उन्हें 14 वर्ष का वनवास) माँगने के कारण श्रीराम अपनी भार्या सीता और भाई लक्ष्मण के साथ वन को चल दिए। महाराज दशरथ ने मंत्री सुमंत्र को बुलाकर कहा कि राम-सीता-लक्ष्मण को रथ में बैठाकर और वन दिखाकर कुछ दिनों बाद लौटा लाना। श्रीरामजी के रथ के पीछे-पीछे प्रजाजन चलने लगे, जिन्हें श्रीरामजी तमसा नदी के किनारे सोते हुए छोड़कर निषादराज का आतिथ्य स्वीकार करके उनके साथ गंगाजी पार करके तीरथराज प्रयाग पहुँचे और मुनि भरद्वाज से मिले। वहाँ से यमुना नदी तक निषादराज साथ रहे, इसके आगे वे अकेले ही चले और महर्षि वाल्मीकि के आश्रम पहुँचे। वाल्मीकिजी से उनका सम्वाद हुआ। उन्होंने श्रीरामजी का वास्तविक स्वरूप पहचान लिया। श्रीरामजी के पूछने पर कि कोई ऐसा स्थान बताएँ, जहाँ पर किसी मुनि-तपस्वी को कष्ट न हो, वहाँ पर हम पर्णकुटी बनाकर वनवास काल बिताना चाहते हैं। इसके उत्तर में वाल्मीकिजी उनके अखिल ब्रह्माण्डनायक ब्रह्म के स्वरूप की महिमा बताते हुए यह कहते हैं-

पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ मैं पूँछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ॥ (2/127)

मुनि वाल्मीकिजी के मुख से प्रेम रस से सनी अपनी महिमा सुनकर श्रीरामजी को संकोच हुआ और मन ही मन मुस्कराने लगे, यथा-

सुनि मुनि बचन प्रेम रस साने। सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने॥ (2/128/1)

इस प्रसंग में भी मन ही मन मुस्करा कर श्रीरामजी वाल्मीकिजी को संकेत कर रहे हैं कि वे गुप्त रूप से अवतरित हुए हैं, अतः इस रहस्य को अपने तक ही सीमित रखें। इतना संकेत मिल जाने पर भी वाल्मीकिजी ने जनकल्याणार्थ श्रीराम के चौदह प्रकार के भक्तों का वर्णन करते हुए कहा कि हे राम! आप इनके मन/हृदय में बास करें और अंत में मानव लीला के अनुरूप श्रीरामजी को चित्रकूट में प्रवास करने को कहा।

7. तब रघुपति बोले मुसुकाई

सीता-हरण के पश्चात् उनकी खोज करते, जटायु का उद्धार कर भक्तमती शबरी के कथनानुसार श्रीरामजी ने सुग्रीव से मित्रता की। बालि का वध करके सुग्रीव का राजतिलक करा दिया और किष्किंधा जाते समय सुग्रीव से कहा कि वर्षाकाल के तुरंत बाद आना ताकि हम सीतान्वेषण प्रारंभ कर सकें। सुग्रीव भोग-विलास में इतने लिप्त हो गए कि उन्हें समय का ध्यान ही नहीं रहा। इससे श्रीरामजी कुपित हो गए, पर लक्ष्मणजी को यह कहकर किष्किंधा भेजा-

तब अनुजहि समुझावा रघुपति करुना सींव।
भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव॥ (4/18)

श्री लक्ष्मणजी किष्किंधा जाकर भय एवं प्रीति दिखाकर सुग्रीव को लेकर आते हैं, तब सुग्रीव अपनी भूल को स्वीकारते हुए श्रीरामजी से यह निवेदन करते हैं:-

अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥
बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पावँर पसु कपि अति कामी॥
नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥
लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥
यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई॥ (4/21/2-5)

यह सुनकर श्रीरामजी मुस्कराते हुए बोले कि अगर तुम्हारे ऐसे विचार हैं

तो तुम मुझे भाई भरत के समान प्रिय हो, यथा-

तब रघुपति बोले मुसुकाई। तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई॥ (4/21/7)

इस प्रकार से श्रीरामजी जब भी मुस्कराए, कुछ न कुछ रहस्य उनकी मुस्कराहट में रहा है, जैसा कि उपर्युक्त सात प्रसंगों में वर्णन किया गया है।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीराम ने अधिकांश प्रसंगों में अपनी भगवत्ता छिपाई है और जहाँ कहीं किसी ऋषि-मुनि या ब्रह्मवेत्ता ने इसे प्रकट करने का प्रयास किया है, वहाँ उन्होंने मुस्करा कर यह संकेत दिया कि वे इस गोपनीय रहस्य को उजागर न करें, क्योंकि वे समाज को यह संदेश देना चाहते हैं कि जन सामान्य भी विकट से विकट परिस्थिति में भी अपने पुरुषार्थ, धैर्य एवं बड़ों-गुरुजनों के आशीर्वाद से अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकता है।

मंगलकारिणी रामकथा

श्रीराम कथा जीवन की समस्त व्यथाओं को दूर करके भवसागर पार कराने में सक्षम है, किन्तु शर्त यह है कि यह मन-बुद्धि चित्त लगाकर श्रवण की जाए। यदि यह न किया तब नाना प्रकार के संदेह उत्पन्न होते हैं जो पतन की ओर ले जाते हैं, पर इसका आशय यह नहीं है कि बिना मन के सुनी कथा व्यथा उत्पन्न करती है। प्रारंभिक स्थिति में ऐसा आभास हो सकता है पर अन्ततोगत्वा कल्याण ही होगा, क्योंकि-

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।। (1/28/1)

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा।। (1/10/1)

पंचवटी निवास के समय श्रीलक्ष्मणजी द्वारा ज्ञान-वैराग्य, भक्ति, ईश्वर-जीवभेद एवं माया के मर्म को समझाने हेतु विनती करने पर श्रीराम ने कहा था-

थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाईं। सुनहु तात मति मन चित लाई।। (3/15/1)

एक बार त्रेता युग में शिवजी कुंभज ऋषि के आश्रम में सतीजी के साथ श्रीराम कथा श्रवण करने गए। सतीजी ने कथा 'मति मन चितलाई' सिद्धांत के अनुसार नहीं सुनी। इसका परिणाम यह हुआ कि जब सीताजी के विरह में विलाप करते हुए अखिल ब्रह्माण्डनायक सच्चिदानंद श्रीरामजी को देखा तो उन्हें भ्रम हो गया और सोचने लगीं-

ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद।। (1/50)

भगवान श्रीराम को साधारण मानव की तरह विलाप करते हुए देखकर सतीजी विचार करती हैं कि उस ब्रह्म तथा उसकी परम शक्ति का तो कभी वियोग होता ही नहीं है। उसी को जिसे शंकरजी सच्चिदानंद कहकर प्रणाम कर रहे हैं, मैं उन्हें विरह दु:ख से अत्यन्त दुखी देख रही हूँ। 'मानस' के

अनुसार-

कबहूँ जोग बियोग न जाकें। देखा प्रगट बिरह दुखु ताकें॥ (1/49/8)

यदि सतीजी ने श्रीराम कथा ध्यान से सुनी होती तब उन्हें निम्नांकित प्रसंग याद रहते-

1. पंचवटी तक की यात्रा में श्रीरामजी चरित कर रहे थे। अब वे लीला करना चाहते हैं। चरित और लीला में अंतर होता है। चरित अनुकरणीय है, परन्तु लीला अनुकरणीय न होकर केवल भक्तों को आनंद देने वाली होती है। पर जो भक्तिभावना विहीन होते हैं उन्हें उसमें संदेह हो जाता है। श्रीरामावतार मर्यादा पुरुषोत्तम हैं और श्रीकृष्णावतार लीला पुरुषोत्तम। कुछ लोगों के मन में राधा-कृष्ण के पवित्र प्रेम तथा गोपियों के साथ रास-लीला को लेकर संदेह रहता है, क्योंकि उनकी दृष्टि सही नहीं होती है, अतः यह ध्यान रखना चाहिए कि सगुण-साकार ब्रह्म कहाँ पर चरित कर रहे हैं और कहाँ पर लीला। इस रहस्य को जानना बहुत कठिन है। प्रभु कृपा से ही यह संभव है, क्योंकि-

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई॥ (2/127/3)

पंचवटी में रावण की बहिन शूर्पणखा के नाक-कान कटने के पश्चात् रावण सीताहरण की योजना बनाकर मारीच के पास पहुँचता है। इसी बीच श्रीरामजी उस समय जब लक्ष्मणजी वन में कंदमूल-फल लेने जाते हैं सीताजी से कहते हैं-

सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नरलीला॥
तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा। जौ लगि करौं निसाचर नासा॥ (3/24/1-2)

भगवान के इस मरम को श्रीलक्ष्मणजी भी नहीं जान सके-

लछिमनहूँ यह मरमु न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना॥ (3/24/5)

इस प्रकार से सीताजी अग्नि में प्रवेश कर गईं और रावण-वध के पश्चात् अग्नि परीक्षा के बाद अग्नि से पुनः श्रीरामजी के पास आईं, उनका प्रतिबिंब ही अग्नि में जला।

प्रतिबिंब अरु लौकिक कलंक प्रचंड पावक महुँ जरे।
प्रभु चरित काहुँ न लखे नभ सुर सिद्ध मुनि देखहिं खरे॥
धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जग बिदित जो।
जिमि छीरसागर इंदिरा रामहि समर्पी आनि सो॥ (6/109/छंद)

2. श्रीराम नाम वंदना में स्पष्ट रूप से लिखा है कि जिस प्रकार वाणी और उसके अर्थ में तथा जल और उसकी लहर में भिन्नता कही जाती है, पर वास्तव में कोई भिन्नता नहीं है, इसी प्रकार श्रीसीताराम में कोई भिन्नता नहीं है। दोनों एक ही हैं-

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥ (1/18)

3. मनु-शतरूपा के परम तप, विशुद्ध प्रेम तथा दृढ़ निष्ठा से अखिल ब्रह्माण्डनायक श्रीराम अपनी आदिशक्ति सीताजी के साथ प्रकट होते हैं। शक्ति एवं शक्तिमान दोनों एक ही हैं। उस दृश्य को गोस्वामी तुलसीदासजी इस प्रकार से लिखते हैं-

अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहि परमारथबादी॥
नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥
संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥ (1/144/4-6)

आदिशक्ति सीताजी के संदर्भ में-

बाम भाग सोभति अनुकूला। आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला॥
जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥
भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥ (1/148/2-4)

4. श्रीराम कथा में माया और मायापति के संबंध का वर्णन आता है। इसमें माया प्रभु की दासी दर्शायी गयी है। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहुँ न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥
सोइ सच्चिदानंद घन रामा। अज बिग्यान रूप बल धामा॥ (7/72 /1-3)

सतीजी को उपर्युक्त चार प्रसंगों में से कोई एक प्रसंग भी याद होता तो

उनको संदेह नहीं होता। शिवजी के बहुत समझाने पर भी नहीं मानीं और सीताजी का वेश धारण करके श्रीरामजी की परीक्षा ली। इससे शिवजी ने उन्हें पत्नी रूप में स्वीकार नहीं किया। पिता के घर यज्ञ में शिवजी का अपमान देख योगाग्नि से अपना शरीर भस्म कर डाला। पार्वती के रूप में जन्म लेकर कठोर तप करके पुनः पति रूप में शिवजी को प्राप्त किया और तब पूर्ण श्रद्धा-भक्ति से 'मति मन चितलाई' के सिद्धांत के अनुसार श्रीराम कथा श्रवण की। इस प्रकार कथा श्रवण करके पार्वतीजी शिवजी से कहती हैं-

सुनि सब कथा हृदय अति भाई। गिरिजा बोलीं गिरा सुहाई॥
नाथ कृपाँ मम गत संदेहा। राम चरन उपजेउ नव गेहा॥ (7/129/7-8)

मैं कृतकृत्य भयउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस।
उपजी राम भगति दृढ़ बीते सकल कलेस॥ (7/129)

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि रामकथा कैसे भी श्रवण की जाए, कल्याणकारी ही है। यदि मन लगाकर श्रद्धा-भक्ति पूर्वक श्रीराम कथा सुनी जाए तो तुरन्त कल्याण संभव है, पर यदि बिना मन से भी श्रीराम कथा श्रवण की जाए तब भी विलंब से ही सही, जैसे कि सतीजी के साथ हुआ, निश्चित रूप से कल्याण होगा, क्योंकि श्रीराम कथा मंगलकारिणी है। मानस के प्रारंभ में ही गोस्वामीजी रामकथा की महिमा का वर्णन करते हुए लिखते हैं-

मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति कूर कबिता सरित की ज्यों सरित पावन पाथ की॥
प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मन भावनी।
भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी॥ (1/10/छंद)

मानस में प्रबंध कला की एक झलक

श्रीरामचरितमानस एक ऐसा अपूर्व आध्यात्मिक/सामाजिक महाकाव्य ग्रन्थ है, जिसमें समाज की सभी समस्याओं का समाधान निहित है। आवश्यकता केवल अपनी समस्या के अनुरूप समाधान अन्वेषण की है। जब किसी समस्या का सर्वसम्मति से समाधान न निकल रहा हो तो 'मानस' में उसका समाधान अवश्य मिल जाएगा। चित्रकूट में जब अयोध्यावासियों सहित भरतजी श्रीरामजी को मनाने अर्थात् अयोध्या वापिस लाने के लिए जाते हैं, उस समय श्रीरामजी दुविधा की स्थिति में पड़ जाते हैं। एक तरफ पिता के वचनों की रक्षा तो दूसरी तरफ भरत भाई का प्रेम और गुरु आज्ञा, किन्तु सर्वसम्मति से सबके हित में समाधान निकला। इस परिप्रेक्ष्य में चित्रकूट में कई बार कई बैठकें हुईं, अलग-अलग समूहों में तथा पूरे समाज के साथ, यहाँ तक राजा जनक भी पधारे। उनका भी संकोच श्रीरामजी को था। अंत में समस्या सुलझी और ऐसा समाधान हुआ कि सभी संतुष्ट हुए, विशेषकर देवतागण जो भरत के आने से सशंकित रहे थे। यही प्रबंध कला है। इसकी एक झलक 'मानस' के अनुसार इस लेख में प्रस्तुत है-

चित्रकूट में राम-भरत मिलाप के पश्चात् अयोध्या से पधारे गुरु वसिष्ठ, तीनों माताओं तथा कुछ विशिष्ट जनों के साथ श्रीरामजी अपने आश्रम में आते हैं। गुरुजी महाराज दशरथ का सुरपुर गमन सुनाते हैं, जिसे सुनकर श्रीराम-लखन-सीता ही नहीं, बल्कि संपूर्ण समाज बिलखता है। अगले दिन प्रात:काल रामजी वेदानुसार पितृ क्रिया करके शुद्ध होते हैं। उसके बाद भी जब दो दिन और बीत गए तब श्रीराम गुरु वसिष्ठजी से कहते हैं-

नाथ लोग सब निपट दुखारी। कंद मूल फल अंबु अहारी॥
सानुज भरतु सचिव सब माता। देखि मोहि पल जिमि जुग जाता॥
सब समेत पुर धारिअ पाऊ। आपु इहाँ अमरावति राऊ॥
बहुत कहेउँ सब कियउँ ढिठाई। उचित होइ तस करिअ गोसाँई॥ (2/248/5-8)

इस प्रसंग में श्रीरामजी अपनी इच्छा प्रकट करते हैं कि वे पिता वचन पालने में दृढ़ हैं, किंतु फिर भी यदि गुरु की आज्ञा हो, वह उन्हें शिरोधार्य है। गुरु भी वसिष्ठ जैसे हों, जो परमार्थ के आगे स्वार्थ त्यागने में तत्पर हैं। वे जानते हैं कि श्रीरामजी का वन-गमन आवश्यक है राक्षस कुल संहार हेतु, अतः वे कहते है-

धर्म सेतु करुनायतन कस न कहहु अस राम।
लोग दुखित दिन दुइ दरस देखि लहहुँ बिश्राम॥ (2/248)

किसी भी विकट समस्या के समाधान हेतु आवश्यक है कि संपूर्ण जनों के एक साथ विचार विमर्श से पूर्व छोटे-छोटे समूहों में अलग-अलग चर्चा की जाए। तत्पश्चात् सभी उप समूहों के विचारों पर मुख्य समूह में चर्चा हो। चित्रकूट में ठीक ऐसा ही हुआ। गुरु वसिष्ठजी श्रीरामजी का मन्तव्य तो समझ गए, पर फिर भी आशा नहीं छोड़ी और भरतजी को बुलाकर उनकी मंशा जानी। रात्रि में भरतजी विचार करते हैं कि किस प्रकार से श्रीरामजी अयोध्या लौटेंगे। वे सोचते हैं कि गुरुजी की आज्ञा से श्रीरामजी लौट सकते हैं, किंतु गुरुजी श्रीरामजी की रुचि के अनुरूप ही कहेंगे। माता कौसल्या के कहने से लौट सकते हैं, पर वे कभी ऐसा हठ नहीं करेंगी। यदि ऐसा ही करना होता तो राम-वनवास ही क्यों होता, उनका तो यह आदर्श है-

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अबध समाना॥ (2/56/1-2)

भरतजी आगे सोचते हैं कि मुझ सेवक की तो कोई गिनती ही नहीं है और फिर विधाता भी मुझसे विपरीत है। ऐसा विचार करते-करते भरतजी ने पूरी रात बिता दी। सुबह स्नान-संध्या करके श्रीरामजी के पास बैठे ही थे कि गुरुजी ने उनको बुला लिया। भरतजी ने आकर गुरु पद वंदन किया। अयोध्या का पूरा समाज जुड़ गया, तब एक प्रस्ताव निम्नांकित प्रकार से गुरुजी ने सुझाया-

सकुचउँ तात कहत एक बाता। अरध तजहिं बुध सरबस जाता॥
तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिअहिं लखन सीय रघुराई॥ (2/256/2-3)

गुरुजी के इस प्रस्ताव को सुनकर भरत-शत्रुघ्न अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्हें

ऐसा लगा जैसे श्रीरामजी अयोध्या के राजा हो गए हों। समाज के कुछ लोगों को हर्ष तथा कुछ को थोड़ी हानि का अनुभव हुआ, पर माताएँ समान दुःख से दुखी हुईं। उनके लिए तो चारों भाई बराबर हैं। भरतजी ने तो यहाँ तक कह दिया कि चौदह वर्ष क्या मैं पूरा जीवन वनवास में बिता दूँगा। इससे अधिक हित मेरा और किसी बात में नहीं, क्योंकि उन्हें एक ही बात की चिंता है कि **'मोहि लगि भे सिय रामु दुखारी।'** (2/182/6), इस मंत्रणा के पश्चात् गुरुजी भरतजी सहित संपूर्ण समाज को लेकर श्रीरामजी के पास आते हैं और कहते हैं-

मोरें जान भरत रुचि राखी। जो कीजिअ सो सुभ सिव साखी॥ (2/258/8)

गुरुजी का भरत पर ऐसा अनुराग देखकर श्रीरामजी विशेष आनंदित हुए और यह कहकर कि जैसा भरत कहें वही करने में भलाई है, चुप हो गए। तब मुनि वसिष्ठजी भरतजी से कहते हैं कि हे तात! सभी प्रकार से संकोच छोड़कर अपने मन की बात अपने प्रिय बंधु से कहो। इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि गुरुजी रामजी की इच्छा समझते थे और भरतजी का मन्तव्य भी जान गए, पर स्वयं स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कह रहे हैं। इससे यह संदेश मिलता है कि जब किसी विकट समस्या के समाधान हेतु विचार विमर्श हो रहा हो, तब बहुत ही कम शब्दों में सोच विचार कर सही तथ्यों की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहिए। गुरुजी की आज्ञा पाकर अपने विचार प्रकट करते हुए भरतजी कहते हैं-

मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥
मो पर कृपा सनेहु बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥
सिसुपन तें परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥
मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहुँ खेल जितावहिं मोही॥ (2/260/5-8)

अभी भरतजी ने जो बात उनके मन में घर कर रही थी सिर्फ उसी को कहा और दूसरी कोई बात नहीं कही। वे चाहते तो साफ-साफ श्रीरामजी से अयोध्या लौटने की बात कह सकते थे, पर वे श्रीरामजी को संकोच में नहीं डालना चाहते थे। भरतजी के ऐसे वचन सुनकर श्रीरामजी ने कहा-

राखेउ रायँ सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ पेम पन लागी॥
तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥
ता पर गुर मोहि आयसु दीन्हा। अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा॥ (2/264/6-8)

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु॥ (2/264)

इस प्रसंग में विचारणीय तथ्य यह है कि श्रीरामजी ने भरतजी को संकोच छोड़कर अपनी बात कहने की बात कही, पर भरतजी अपने स्वभाववश श्रीरामजी को संकोच में नहीं डालना चाहते हैं, किन्तु फिर भी जैसी पूर्व में गुरुजी के साथ मंत्रणा हुई थी, उसी के अनुरूप कुछ प्रस्ताव रखते हुए कहते हैं-

लखि सब बिधि गुर स्वामि सनेहू। मिटेउ छोभु नहिं मन संदेहू॥
अब करुनाकर कीजिअ सोई। जन हित प्रभु चित छोभु न होई॥
जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥ (2/268/1-3)

तिलक समाजु साजि सबु आना। करिअ सुफल प्रभु जौं मनु माना॥ (2/268/8)

सानुज पठइअ मोहि बन कीजिअ सबहि सनाथ।
नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ॥ (2/268)

नतरु जाहिं बन तीनिउ भाई। बहुरिअ सीय सहित रघुराई॥
जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुना सागर कीजिअ सोई॥ (2/269/1-2)

भरतजी ने एक-एक करके उपर्युक्त तीन विकल्प प्रस्तुत किए, किंतु फिर भी श्रीरामजी तीनों बार चुप रहे। यह देखकर भरतजी ने समझ लिया कि कोई भी विकल्प श्रीरामजी को स्वीकार नहीं है। तब तुरन्त उन्होंने स्पष्ट रूप से कह दिया कि-

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब॥ (2/269)

इससे पूर्व श्रीरामजी ने भरतजी से कहा था कि अपना मन प्रसन्न करके संकोच छोड़कर तुम जो कहोगे मैं करने को तैयार हूँ। अब उस स्थिति में जब तीन विकल्प प्रस्तुत करने पर श्रीरामजी चुप रहे, भरतजी भी कहते हैं कि

संकोच त्याग कर प्रसन्न मन से आप जिसे जो आज्ञा देंगे, वह स्वीकार करेगा। कितना उच्च आदर्श है दो भाइयों के प्रेम पूर्ण सत्ता और सम्पत्ति के बँटवारे का। अयोध्या राज्य को पिता की आज्ञा से श्रीरामजी त्याग चुके हैं, पर भरतजी उस पर श्रीरामजी का ही अधिकार समझकर उसे स्वीकार नहीं कर रहे हैं। चित्रकूट आते समय उन्होंने यही विचार किया था कि-

भरत जाइ घर कीन्ह बिचारू। नगरु बाजि गज भवन भँडारू॥
संपति सब रघुपति कै आही। जौं बिनु जनत चलौं तजि ताही॥
तौ परिनाम न मोरि भलाई। पाप सिरोमनि साइँ दोहाई॥ (2/186/2-4)

इस प्रकार भरतजी के यह प्रस्ताव देने पर कि आप जो आज्ञा दें, सभी को शिरोधार्य होगी, श्रीरामजी चुप हो गए। यह देखकर पूरी सभा सोच में पड़ गई। उसी समय राजा जनक के दूत आ जाते हैं और प्रकरण बदल जाता है अर्थात् समस्या के समाधान हेतु निर्णय की स्थिति बन जाने पर भी सभा स्थगित हो जाती है और निर्णय फिर टल जाता है। विकट समस्या के समाधान हेतु प्रकृति ने भी मदद की कि ठीक उसी समय जनकजी के आने पर विचार विमर्श हेतु एक और अवसर मिल गया। कुछ अंतराल के पश्चात् राजा जनक का आगमन होता है। उनसे मंत्रणा होती है। श्रीरामजी की माताएँ एवं जानकीजी की माता सुनयना की भी वार्ता हुई और एक ही निष्कर्ष निकला कि भरतजी के लिए कुछ किया जाए। भरतजी रामजी का वियोग नहीं सहन कर पाएँगे। कौसल्याजी ने स्पष्ट रूप से कहा-

लखनु राम सिय जाहुँ बन भल परिनाम न पोचु।
गहबरि हियँ कह कौसिला मोहि भरत कर सोचु॥ (2/282)

राजा जनक के आने पर अब नए सिरे से पुनः वार्ता का सिलसिला चलेगा, अतः श्रीराम वसिष्ठजी के पास जाकर निवेदन करते हैं-

नाथ भरतु पुरजन महतारी। सोक बिकल बनबास दुखारी॥
सहित समाज राउ मिथिलेसू। बहुत दिवस भए सहत कलेसू॥
उचित होइ सोइ कीजिअ नाथा। हित सबही कर रौरें हाथा॥
अस कहि अति सकुचे रघुराऊ। मुनि पुलके लखि सीलु सुभाऊ॥ (2/290/4-7)

श्रीरामजी के परमार्थपूर्ण वचन सुनकर उनसे अपने आश्रम में जाने को

कहते हुए गुरुजी राजा जनकजी के पास आकर कहते हैं-

महाराज अब कीजिअ सोई। सब कर धरम सहित हित होई॥ (2/291/8)

अब गुरुजी और राजा जनक भरतजी के पास आते हैं और उनके साथ मंत्रणा करते हैं। उस समय भरतजी कहते हैं-

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवाधरमु कठिन जगु जाना॥
स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू। बैरु अंध प्रेमहि न प्रबोधू॥ (2/293/7-8)

राखि राम रुख धरमु ब्रतु पराधीन मोहि जानि।
सब कें संमत सर्ब हित करिअ पेमु पहिचानि॥ (2/293)

भरतजी का यह विचार सुनकर मुनि वसिष्ठजी और राजा जनक श्रीरामजी के पास जाकर भरतजी का उक्त विचार सुनाते हैं, जिसे सुनकर श्रीरामजी प्रेम विभोर हो जाते हैं। तब तक भरतजी भी सभा में आ जाते हैं और नए सिरे से पुनः विचार-मंथन होता है। जब सभी एक-दूसरे पर निर्णय लेने की बात कहने लगते हैं, तब भरतजी हाथ जोड़कर इस प्रकार से निवेदन करते हैं-

अग्या सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जन पावै देवा॥
अस कहि प्रेम बिबस भए भारी। समउ सनेहु न सो कहि जाई॥ (2/301/4-5)

कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाए समीप गहि पानी॥ (2/301/7)

अब निर्णय लेने का समय आ गया, ऐसा जानकर श्रीरामजी स्पष्ट रूप से भरतजी को अयोध्या लौटकर राजपाट देखने को कहते हैं। श्रीरामजी ने कहा-

बाँटी बिपति सबहिं मोहि भाई। तुम्हहि अवधि भरि बड़ि कठिनाई॥
जानि तुम्हहि मृदु कहउँ कठोरा। कुसमयँ तात न अनुचित मोरा॥ (2/306/6-7)

यह आदर्श है भाइयों का कि संपत्ति को नहीं विपत्ति को बाँटते हैं। यदि आज इस आदर्श पर आचरण किया जाए, तो भाइयों के बीच स्वप्न में भी न्यायालय जाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। भरतजी श्रीरामजी की आज्ञा पाकर संतोष का अनुभव करते हैं और कहते हैं-

नाथ भयउ सुखु साथ गए को। लहेउँ लाहु जग जनमु भए को॥
अब कृपाल जस आयसु होई। करौं सीस धरि सादर सोई॥
सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पारु पावौं जेहि सेई॥ (2/307/6-8)

भरतजी ऐसा कहकर पुनः निवेदन करते हैं कि आपके राज्याभिषेक के लिए तीर्थों का जल लाया गया है, उसके लिए क्या आज्ञा है। श्रीरामजी की आज्ञानुसार ऋषि अत्रिजी के परामर्श से उस जल को पर्वत के समीप स्थित एक कुएँ में स्थापित किया गया। उस कुआँ का नाम भरतकूप है। आज भी वह कुआँ विद्यमान है और भरतकूप के नाम से रेलवे स्टेशन भी है।

अब भरतजी संपूर्ण समाज के साथ अयोध्या जाने को तैयार हैं, किंतु बिना आधार के संतोष नहीं हो रहा है, तब श्रीरामजी ने-

प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥ (2/316/4)

भरत मुदित अबलंब लहे तें। अस सुख जस सिय रामु रहे तें॥ (2/316/8)

भरतजी ने अयोध्या आकर प्रभु पादुकाओं को सिंहासन पर पधराया और उन्हीं से आज्ञा लेकर राजकाज संपादित किए।

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥ (2/325)

मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा

वनवास काल में श्रीरामजी वाल्मीकिजी के आश्रम में जाते हैं और उनसे पूछते हैं कि उन्हें कोई ऐसा स्थान बता दें, जहाँ किसी ऋषि-मुनि को कोई कष्ट न हो ताकि हम वहाँ पर पर्ण कुटी बनाकर निवास कर सकें। महर्षि वाल्मीकिजी ने उन्हें पहचान कर कहा कि आप ही बता दें कोई ऐसा स्थान, जहाँ पर आप न हों। जो कण-कण में रमा हो उसी को तो राम कहते हैं तथापि उन्होंने 14 ऐसे भक्तों के लक्षण बताए जिनके हृदय (मन) में श्रीराम-लक्ष्मण सहित या श्रीसीताराम या तीनों जन निवास करें। उन चौदह में से एक भक्त के लक्षण इस प्रकार बताए-

मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा। पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा॥
तरपन होम करहिं बिधि नाना। बिप्र जेवाँइ देहिं बहु दाना॥
तुम्ह तें अधिक गुरुहिं जियँ जानी। सकल भायँ सेवंहि सनमानी॥ (2/129/6-8)

सबु करि मागहिं एकु फलु राम चरन रति होउ।
तिन्ह कें मन मंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥ (2/129)

उपर्युक्त सभी साधनों में प्रमुख है नित्य मंत्रराज (राम-नाम) का जप करना, क्योंकि कलियुग में श्रीभगन्नाम जप और श्रीभगवत् गुणगान के अलावा दूसरा कोई सुलभ साधन नहीं है। श्रीरामचरितमानस की समापन चौपाइयों में यह स्पष्ट रूप से लिखा है-

एहिं कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा॥
रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥
जासु पतित पावन बड़ बाना। गावहिं कबि श्रुति संत पुराना॥
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजें गति केहिं नहिं पाई॥ (7/130/5-8)

श्रीकाकभुशुण्डिजी कलियुग का वर्णन करते हुए गरुड़जी से कहते हैं कि जो फल सत्युग में ध्यान से, त्रेता में यज्ञ से और द्वापर में भगवत् पूजन से होता है, वही फल कलियुग में केवल भगवन्नाम जप से होता है-

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥ (7/102ख)

श्रीरामनाम वंदना में भी यही लिखा है कि कलियुग में, जो कि एक प्रकार से पाप का समुद्र है और मनुष्य का मन उसमें मछली की तरह मग्न रहता है, केवल राम नाम ही मन वांछित फल देने वाला और सभी जंजालों से मुक्त कराके इस लोक में कल्याण करता है और परलोक भी सुधारता है, दोनों के लिए हितकारी है-

कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥
नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥
नहिं कलि करम न धरम बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥ (1/27/4-7)

इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि अन्य साधन जैसे तर्पण, होम, ब्राह्मण भोजन, दान इत्यादि जितने व्यावहारिक हों, बन सकें तो करें अन्यथा भगवन्नाम जप और उनके गुणगान नित्य करें। जो ऐसा करते हैं और उसका कुछ फल नहीं चाहते हैं अर्थात् निष्काम भाव से भजन करते हैं उनके मन-मंदिर में सीतारामजी निवास करते हैं और जब श्रीसीतारामजी मन-मंदिर में निवास करेंगे, तब फिर और क्या चाहिए, क्योंकि जीव का सच्चा स्वार्थ यही है, ऐसा काकभुशुण्डिजी का मत है, वे कहते हैं-

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन राम पद नेहा॥ (7/96/1)

निषादराज को उपदेश देते हुए लक्ष्मणजी भी यही कहते हैं कि श्रीरामजी के चरणों में प्रेम उत्पन्न हो जाए, यही परम परमार्थ है-

सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥ (2/93/6)

श्रीभगवन्नाम जप और उनके गुणगान करने से श्रीरामजी के चरणों में प्रेम उत्पन्न होता है, ऐसा श्रीरामचरितमानस के प्रारंभ में ही गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है-

जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥
होइहहिं राम चरन अनुरागी। कलि मल रहित सुमंगल भागी॥ (1/15/10-11)

सपनेहुँ साचेहुँ मोहि पर जौं हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ॥ (1/15)

भगवान के सभी नाम समान रूप से फलदाई हैं, कल्याणकारी हैं, जिसकी रुचि जिस नाम-रूप में हो, वे अपनी रुचि के अनुसार उस नाम-रूप का जप-स्मरण-चिंतन कर सकते हैं, तथापि 'राम' नाम का विशेष महत्त्व है। इसीलिए इसे 'मंत्रराज' अर्थात् मंत्रों का राजा, मंत्रों में श्रेष्ठ कहा गया है, क्योंकि नारदजी ने ऐसा वरदान श्रीरामजी से माँगा है। वे निवदेन करते हैं उस समय जब सीताहरण के पश्चात् श्रीराम-लक्ष्मण पंपा सरोवर पर प्रसन्न मुद्रा में विराजमान थे-

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक तें एका॥
राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका॥ (3/42/7-8)

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उड़गन बिमल बसहुँ भगत उर ब्योम॥ (3/42 क)

इस निवेदन को स्वीकार करते हुए श्रीरामजी ने कहा-

एवमस्तु मुनि सन कहेउ कृपासिंधु रघुनाथ।
तब नारद मन हरष अति प्रभु पद नायउ माथ॥ (3/42 ख)

इस प्रकार से श्रीराम नाम का विशेष महत्त्व है और यही वह 'मंत्रराज' है, जिसका उल्लेख वाल्मीकिजी ने श्रीरामजी से किया था। श्रीरामचरितमानस का पठन-पाठन, मनन-चिंतन, इस पर लेखन आदि सभी 'मंत्रराजु' के जप के समान हैं, क्योंकि इसकी हर चौपाई, दोहा, सोरठे, छंद आदि में 'मंत्रराजु' के दो अक्षर 'र' और 'म' प्रयुक्त हुए हैं। इसलिए मानस के प्रारंभ में ही यह लिखा है-

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥ (1/10/1)

अब संक्षिप्त में इस पर भी विचार कर लें कि 'मंत्रराजु' का जप किस विधि से किया जाए। इस संदर्भ में गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं-

मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥ (1/200/6)

अर्थात् 'मनसा-वाचा-कर्मणा' से चतुराई अर्थात् छल-कपट त्याग कर

भजन करने से श्रीरामजी कृपा करते हैं, क्योंकि छल-कपट श्रीरामजी को पसंद नहीं हैं, वे तो भक्त का निर्मल मन चाहते हैं-

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥ (5/44/5)

निर्मल मन बनाने के लिए हमें जगज्जननी जानकीजी की शरण में जाना होगा। जिस प्रकार एक माँ धूल धूसरित शिशु को अपने हाथों से स्वच्छ करती है उसी प्रकार जगज्जननी जानकीजी अपने भक्त को निर्मल मन-मति बनाती हैं। वंदना प्रकरण में गोस्वामीजी लिखते हैं-

जनकसुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधाान की॥
ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ॥ (1/18/7-8)

श्रीराम नाम, जो कि 'मंत्रराजु' है, का प्रभाव असीम है। इसकी चिंता नहीं करनी है कि पहले निर्मल मन बनाएँ फिर जप करें। जप करने से, श्रीभगवन् गुणगान करने से, श्रद्धा-विश्वास पूर्वक श्रीरामचरितमानस का पाठ करने से निर्मल मन स्वत: हो जाएगा। इसलिए गोस्वामीजी ने 'श्रीराम नाम' वंदना के पश्चात् बहुत स्पष्ट रूप से लिखा है कि चाहे भाव हो या कुभाव और यहाँ तक कि आलस और बिना मन के भी 'श्रीराम नाम' जप करने से दशों दिशाओं में मंगलमय वातावरण हो जाता है-

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥ (1/28/1)

धन्य है श्रीरामनाम रूपी मंत्रराज और धन्य हैं वे जो इसमें रम गए हैं। यहाँ तक कि वह कुल धन्य है जिसमें इस मंत्रराज को जपने वाला श्रीरघुनाथ परायण विनम्र नर पैदा होता है। ये वचन संपूर्ण श्रीरामकथा सुनाने के पश्चात् श्रीशिवजी ने पार्वतीजी से कहे थे-

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥ (7/127)

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई

श्रीरामचरितमानस के कुछ प्रसंगों में वर्णित, जीवन में अनुपालनार्थ दिव्य संदेशों में कुछ विरोधाभास सा प्रतीत होता है, पर वास्तव में विरोधाभास है नहीं। इसका कारण यह है कि जब देश-काल-परिस्थिति को ध्यान में नहीं रखा जाता है, तब विरोधाभास लगने लगता है। पूरे प्रकरण को समझे बिना कि किस समय किस स्थिति में किसके लिए क्या कहा गया है, कुछ लोग उस संदेश का उल्टा अर्थ समझ बैठते हैं। निम्नांकित चौपाई इसी क्रम में आती है-

राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥ (1/128/1)

इसका अर्थ कुछ लोग यह समझ लेते हैं कि जो कुछ करना है श्रीरामजी को करना है। जैसा वे चाहेंगे वैसा हमसे करा लेंगे। कभी-कभी अनुचित व्यवहार करके भी हम श्रीराम पर ही यह दोषारोपण कर देते हैं कि श्रीरामजी की यही इच्छा थी। इस समय हम यह भूल जाते हैं कि कर्म की प्रधानता का प्रतिपादन भी तो इस प्रकार किया गया है-

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥ (2/219/4)

श्रीमद्भगवद्गीता में भी अर्जुन को उपदेश देते हुए श्रीकृष्णजी यही समझाते हैं कि कर्म करने में तुम स्वतंत्र हो, पर उसके फल की इच्छा मत करो वह विधाता के हाथ में है-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥ (गीता 2/47)

इस प्रकार से दो अलग-अलग सिद्धांत प्रतीत होते हैं। एक यह कि हम कुछ भी करना चाहें वह न होकर वही होगा जो श्रीरामजी चाहेंगे और दूसरा यह कि कर्म की प्रधानता है और हम जैसा चाहें वैसा नवीन कर्म कर सकते हैं। अब इन दोनों प्रसंगों पर विचार करते हैं। पहला प्रसंग नारद-मोह का है जब काम-विजय का अभिमान नारदजी को हो जाता है। काम-विजय की

घटना का उल्लेख सर्वप्रथम नारदजी शिवजी से करते हैं, क्योंकि उन्होंने भी काम पर विजय प्राप्त की थी। नारदजी सोचते होंगे कि मेरी काम विजय शिवजी की काम-विजय से श्रेष्ठ है, क्योंकि उन्होंने क्रोध करके कामदेव को भस्म कर दिया था, पर मैंने तो क्रोध भी नहीं किया-

भयउ न नारद मन कछु रोषा। कहि प्रिय बचन काम परितोषा॥ (1/127/1)

शिवजी समझ गए थे कि नारद के मन में अभिमान पैदा हो गया है, अतः अपना अतिप्रिय जान कर समझाया कि जिस प्रकार यह घटना उन्हें सुनाई, विष्णु भगवान को कभी नहीं सुनाना और यदि प्रसंग चले तो भी इसे छिपाने का प्रयास करना, पर नारदजी को शिवजी का उपदेश अच्छा नहीं लगा और क्षीरसागर पहुँचकर भगवान विष्णु को काम-विजय का प्रसंग सुना दिया। भगवान ने समझ लिया कि नारद के मन में अहंकार रूपी वट वृक्ष का अंकुर पैदा हो गया है। भक्त के हितसाधक भगवान ने शीघ्र ही अहंकार हरण की लीला रच दी-

करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गरब तरु भारी॥
बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी। पन हमार सेवक हितकारी॥ (1/129/4-5)

भगवान ने अपनी माया से एक सुन्दर नगर का निर्माण किया, जिसमें राजा की कन्या विश्वमोहिनी की हस्तरेखा देखकर उसके अलौकिक रूप पर नारदजी मोहित हो गए और भगवान से उसे प्राप्त करने हेतु उनका रूप मांग लिया, पर मांगते समय उन्होंने यह कहा-

जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा॥ (1/132/7)

श्रीभगवान ने भी उन्हें बताया और सचेत कर दिया कि 'हित' ही नहीं जिस प्रकार तुम्हारा परमहित होगा, वैसा ही किया जाएगा, पर नारदजी माया मोहित होने के कारण हरि की गूढ़वाणी नहीं समझ सके। श्रीभगवान ने उन्हें वानर का रूप दे दिया तथा स्वयं ही स्वयंवर में पहुँच गए, जिससे विश्वमोहिनी ने उनके गले में जयमाला डाल दी। विप्र रूप में बैठे शिवगणों के कहने पर जब नारदजी ने अपना मुख जल में देखा तो अति क्रोधित होकर श्रीभगवान के पास जाने को तैयार हो गए, पर श्रीभगवान बीच में ही मिल गए-

बीचहिं पंथ मिले दनुजारी। संग रमा सोइ राजकुमारी।। (1/136/4)

यहाँ पर यह भी विचारणीय है कि बीच रास्ते में भगवान क्यों मिले। नारदजी को माया ने पूरी तरह घेर लिया था। वे काम-क्रोध-लोभ के वशीभूत थे और यह तो नरक का रास्ता है। अपने भाई रावण को समझाते हुए विभीषण ने कहा था कि हे नाथ काम-क्रोध-लोभ ये सभी नरक के रास्ते हैं, इन्हें छोड़कर श्रीराम का भजन करिए-

काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।
सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत।। (5/38)

इस मार्ग पर चलकर तो नारदजी कभी भी श्रीभगवान के पास नहीं पहुँच सकते थे, अतः श्रीभगवान बीच में ही मिल गए। अति क्रोधित होकर नारदजी ने उन्हें शाप दे दिया कि तुम्हें वही नर वेश रखकर संसार में आना पड़ेगा जिस वेश को धारण करके तुमने मुझे ठगा है। तुमने मेरा बंदर का मुख बनाया तो वानर ही तुम्हारी सहायता करेंगे और मेरा जिस तरह अपमान हुआ, तुम भी नारि-विरह दुख भोगोगे। शाप शिरोधार्य कर जब श्रीभगवान ने अपनी माया का वेग दूर कर दिया, तब नारदजी चरणों में गिर पड़े और क्षमा याचना करने लगे। श्रीभगवान ने कहा कि इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं, यह सब मेरी इच्छा से ही हुआ है-

मृषा होउ मम श्राप कृपाला। मम इच्छा कह दीनदयाला।। (1/138/3)

सीताहरण के पश्चात् जब श्रीराम-लक्ष्मण पंपापुर सरोवर पर प्रसन्न मुद्रा में बैठे थे, तब नारदजी जाकर उनसे प्रश्न करते हैं कि जब मैंने विवाह करना चाहा, तब आपने क्यों नहीं करने दिया। श्रीरामजी ने उन्हें समझाया कि मेरे भक्तजन छोटे शिशु के समान हैं और ज्ञानीजन प्रौढ़ पुत्र की तरह, अतः मैं अपने भक्तों का ध्यान ठीक वैसे ही रखता हूँ, जैसे एक माँ अपने अबोध शिशु का ध्यान रखती है-

सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा।।
करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।। (3/43/3-4)

श्रीरामजी ने नारदजी को बताया कि गृहस्थाश्रम के भोग के पश्चात् जो स्थिति आती है, वह तुम पहले ही प्राप्त कर चुके थे, तब भला तुम्हारी

अवनति क्यों करता।

श्रीरामजी अपने भक्त की रक्षा एवं संभाल ठीक उसी प्रकार से करते हैं जैसे एक माँ अपने अबोध शिशु का ध्यान रखती है। जब शिशु को कोई फोड़ा हो जाता है, तब माता चीरा लगवाकर उसके आगे आने वाले महान दुख को दूर करती है। यद्यपि प्रारंभ में बच्चे को बहुत कष्ट होता है, पर आगे के महान कष्ट को ध्यान में रखकर उस प्रारंभिक कष्ट पर माँ ध्यान नहीं देती है। इसी प्रकार श्रीरामजी अपने भक्त के अभिमान को दूर करने के लिए ऐसी माया रचते हैं, जिससे उसे कष्ट तो होता है जैसे नारदजी को हुआ, पर वे उस भक्त को अभिमान मुक्त कर देते हैं और नारदजी जैसे भक्त से दिया हुआ शाप भी स्वीकार करते हैं। भक्त जन के प्रति ऐसे सहज स्वभाव के हैं श्रीरामजी। स्वयं अपना अनुभव बताते हुए काकभुशुण्डिजी गरुड़जी से कहते हैं-

सुनहु राम कर सहज सभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
संसृत मूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥
ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥
जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥ (7/74/5-8)

जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर॥ (7/74क)

तिमि रघुपति निज दास कर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजहु भ्रम त्यागि॥ (7/74ख)

इस प्रकार के प्रसंगों में **'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई'** लिखा गया है।

अब दूसरे प्रसंग पर विचार करें। जब भरतजी श्रीरामजी को मनाने चित्रकूट जाते हैं, तब उनके प्रेम को देखकर इन्द्र डर जाता है और अपने गुरु बृहस्पतिजी से निवेदन करता है कि ऐसा कुछ करिए कि भरतजी की रामजी से भेंट ही न हो पाए, अन्यथा बनी बनाई बात बिगड़ जाएगी। तब बृहस्पतिजी समझाते हैं कि उस समय अर्थात् श्रीरामजी को वनवास दिलाते समय उनकी इच्छा से ही वह कार्य किया गया था, किंतु यदि अब तुम कुछ कुटिलपन दिखाओगे तो दुर्वासाजी की तरह त्रस्त होना पड़ेगा, जैसे वे दुखी हुए थे भक्त

राजा अंबरीश की परीक्षा लेते समय-

तब किछु कीन्ह राम रुख जानी। अब कुचालि करि होइहि हानी॥ (2/218/3)

लोकहुँ बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं दुरबासा॥ (2/218/6)

और आगे समझाते हुए वे कहते हैं कि ईश्वर सब पर समान कृपा करते हैं, पर जो जैसा करता है, उसी के अनुसार फल देते हैं। इसमें कर्म की प्रधानता बताई गई है-

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥
करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥ (2/219/3-4)

इस प्रकार से जब हम उपर्युक्त दोनों प्रसंगों पर विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने-अपने स्थान पर दोनों संदेश सटीक हैं, कोई विरोधाभास नहीं है। सारांश स्वरूप यह कहा जा सकता है कि ईश्वर ने जो हमें बुद्धि विवेक दिया है और हमने सत्संग से जो कुछ अपने विवेक को निखारा है, उसकी सहायता से अपने सामर्थ्य के अनुसार दृढ़तापूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करें। इसके बाद जो होनी-अनहोनी होती प्रतीत होती है उसे प्रभु-इच्छा समझकर संतोष करें और फिर भरतजी की तरह ईश्वर के समक्ष पूर्ण समर्पण करते हुए यही विनती करें कि प्रभु जैसा आप चाहें, जिस प्रकार से आपको प्रसन्नता हो, वही कीजिए-

जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुना सागर कीजिअ सोई॥ (2/269/2)

राम से वैरभाव से रावण को सद्गति

गोस्वामी तुलसीदासजी ने श्रीरामचरितमानस के प्रारंभ में वंदना प्रकरण में ही लिख दिया है कि **'जड़ चेतन गुन दोषमय'** अर्थात् जितने भी प्राणी-पदार्थ हैं सभी में गुण-दोष हैं, किसी में कम तो किसी में अधिक। इस सिद्धांत के अनुसार सभी मनुष्यों में गुण भी हैं और दोष भी। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं होगा, जिसमें शत-प्रतिशत गुण हों या केवल दोष ही हों, अतः संतों की तरह हमें भी गुणग्राही होना चाहिए। तुलसीदासजी संतों की वंदना के पश्चात् संतों के स्वभाव के सम्बन्ध में लिखते हैं-

सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। राम नाम जस अंकित जानी॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुनग्राही॥ (1/10/5-6)

हम सभी जानते हैं कि मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीरामजी का चरित्र अनुकरणीय है, रावण का नहीं, पर उपर्युक्त सिद्धांत के अनुसार रावण के चरित्र में भी दो गुण ऐसे लक्षित होते हैं, जो गृहस्थ के लिए अनुकरणीय हैं। पहला यह कि किसी भी स्थिति में बारम्बार एक ही बात को दुहराते रहने पर भी पत्नी पर क्रोध न करना और दूसरा निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति हेतु अपने दृढ़ संकल्प पर अडिग रहना। रावण की अर्द्धांगिनी मंदोदरी ने चार बार सीताजी को ससम्मान लौटा देने एवं भगवान श्रीराम से वैर छोड़कर उनका भजन करने के लिए कहा, पर एक भी बार रावण ने उस पर क्रोध नहीं किया, बल्कि कुछ न कुछ बहाना बनाकर उसे भुलावे में डाल दिया, जबकि उसी रावण ने इसी बात को लेकर भाई विभीषण को लात मारकर भगा दिया। विभीषण द्वारा लंका त्याग के पश्चात् रावण ने उनके पीछे गुप्त दूत भेजे। जब लौटकर शुक दूत ने सलाह दी कि सीताजी को लौटा दीजिए तो उसे भी लात मारकर भगा दिया। अपने नाना वरिष्ठ मंत्री माल्यवान को एवं पुत्र प्रहस्त को अपमानित किया। सीताहरण के पूर्व भी इसकी योजना बनाते समय जब मारीच ने समझाया कि श्रीराम कोई साधारण मनुष्य नहीं, बल्कि ईश्वर का अवतार

हैं, तब रावण उसे मारने को तैयार हो गया था। जहाँ तक दृढ़ निश्चयी होने की बात है सो यह तो स्पष्ट है कि रावण ने खर-दूषण वध के पश्चात् ही समझ लिया था कि श्रीराम भगवान हैं तो उनसे वैर भाव रखना ही कल्याणकारी होगा, क्योंकि इस तामसी शरीर से भगवान का भजन तो होगा नहीं। इन सभी तथ्यों पर श्रीरामचरितमानस में वर्णित प्रसंगों के आधार पर निम्नांकित विवेचना प्रस्तुत है-

1. मारीच द्वारा रावण को समझाना

खर-दूषण के वध के पश्चात् रावण बेचैन हो गया। जीवन में पहली बार उसे रात भर नींद नहीं आई। उसने सीताहरण की योजना बनाई। मारीच का साथ लेना निश्चित किया और स्वयं उसके पास गया। रावण बड़ा राजनीतिज्ञ था। उसने सोचा कि जिससे काम लेना है उसके पास स्वयं ही जाना चाहिए। जब सारी योजना मारीच को समझाई तो उसने अपना अनुभव बताते हुए कहा कि श्रीरामजी ने उसे बिना नोक का बाण मारा था तो वह सौ योजन दूर इस समुद्र के किनारे आ गिरा था। जिन्होंने ताड़का और सुबाहु का वध किया और शिवजी का धनुष तोड़ा, वह साधारण मानव नहीं हो सकता। इस पर रावण ने कहा-

गुरु जिमि मूढ़ करसि मम बोधा। कहु जग मोहि समान को जोधा॥ (3/26/2)

इस प्रकार से रावण ने मारीच को मूढ़ कहकर अपमानित किया। मारीच ने समझ लिया कि यदि उसका कहना न माना तो वह मार देगा। जब मरना ही है तो भगवान राम के हाथों क्यों न मरूँ।

2. विभीषण द्वारा रावण को समझाना

विभीषण श्रीराम-भक्त थे, पर उन्होंने सीताहरण का विरोध नहीं किया। श्रीहनुमानजी के साथ सत्संग होने पर उनकी समझ में आ गया था कि अन्याय का विरोध न करना, उसे सहन करना भी अन्याय करने के बराबर है, अतः हनुमानजी द्वारा लंका-दहन के पश्चात् विभीषण ने रावण को समझाया। इस पर वरिष्ठ मंत्री माल्यवान ने भी सहमति जताई। तब रावण ने दोनों का अपमान किया-

रिपु उतकरष कहत सठ दोऊ। दूरि न करहु इहाँ हइ कोऊ॥
माल्यवंत गृह गयउ बहोरी। कहइ बिभीषनु पुनि कर जोरी॥ (5/40/3-4)

इतना अपमान सहने पर भी विभीषण ने पुनः हाथ जोड़कर रावण को समझाया। नीति बताई और कहा कि सीताजी को ससम्मान वापिस कर दीजिए। इतना सुनते ही रावण ने भाई विभीषण को लात मारकर कहा कि यह नीति जाकर उन तपस्वियों को सुनाना-

मम पुर बसि तपसिन्ह पर प्रीती। सठ मिलु जाइ तिन्हहि कहु नीती॥
अस कह कीन्हेसि चरन प्रहारा। अनुज गहे पद बारहिं बारा॥ (5/41/5-6)

3. दूत शुक द्वारा रावण को समझाना

विभीषण अपने भाई रावण की लात के प्रहार से श्रीरामजी की शरण में आ गए। रावण ने उनके पीछे गुप्त दूत भेजे, जिन्होंने श्रीरामजी का व्यवहार और उनकी सेना का बल देखकर, लक्ष्मणजी द्वारा भेजे पत्र के साथ ही रावण को यथास्थिति से अवगत कराया और दूत शुक ने जब यह सलाह दी कि सीताजी को वापिस कर दीजिए तो उसे भी लात मारकर भगा दिया। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

जनकसुता रघुनाथहि दीजे। एतना कहा मोर प्रभु कीजे॥
जब तेहिं कहा देन बैदेही। चरन प्रहार कीन्ह सठ तेही॥ (5/57/7-8)

4. पुत्र प्रहस्त द्वारा रावण को समझाना

समुद्र पर पुल बनाकर जब श्रीरामजी अपनी सेना सहित लंका में प्रवेश कर गए, तब रावण ने पुनः अपने सलाहकारों, मंत्रियों और दरबारियों से सलाह ली कि किस तरह शत्रु का मुकाबला करना चाहिए, उस समय सबने वही उत्तर दिया कि मनुष्य और वानर-भालू तो हम राक्षसों का आहार हैं, इसमें चिंता करने की कोई बात नहीं है। मंत्रियों के ऐसे वचन सुनकर रावण के पुत्र प्रहस्त ने हाथ जोड़कर वास्तविकता से परिचय कराया कि जब एक बंदर लंका जला रहा था तब क्या किसी को भूख नहीं लगी थी। उसने सलाह दी कि सीताजी को वापिस कर दें तो राम वापिस लौट जाएँगे और इसके बाद भी यदि वे न लौटें तब युद्ध करें। इस पर रावण ने अपने पुत्र का इस तरह अपमान किया-

सुत सन कह दसकंठ रिसाई। असि मति सठ केहिं तोहि सिखाई॥
अबहीं ते उर संसय होई। बेनुमूल सुत भयहु घमोई॥ (6/10/2-3)

5. मंत्री माल्यवान् द्वारा रावण को समझाना

जो धैर्यवान, नीतिवान और सच्चे हितैषी होते हैं वे एक बार अपमान सहकर भी पुनः सच्ची बात बोलने का साहस करते हैं। वरिष्ठ मंत्री माल्यवान् (नानाजी) ने भी यही किया। एक बार सच्ची बात कहने पर रावण उनका अपमान कर चुका था, फिर भी उन्होंने, उस समय पर जब युद्ध छिड़ ही गया था, एक बार पुनः समझाते हुए रावण से कहा कि जिस ईश्वर का गुणगान वेद करते हैं, जिन्होंने उसके भाई सहित हिरण्याक्ष और मधु-कैटभ का वध किया, वही ईश्वर कृपासिंधु श्रीरामजी के रूप में अवतरित हुए हैं, अतः वैर-भाव छोड़कर सीताजी को लौटा दीजिए और उन कृपासिंधु श्रीराम का भजन कीजिए। इस पर रावण ने क्रोधित होकर कहा-

ताके बचन बान सम लागे। करिआ मुह करि जाहि अभागे॥
बूढ़ भएसि न त मरतेउँ तोही। अब जनि नयन देखावसि मोही॥ (6/49/2-3)

6. मंदोदरी द्वारा रावण को समझाना

मारीच, विभीषण, दूत शुक, पुत्र प्रहस्त और वरिष्ठतम मंत्री माल्यवान द्वारा एक या दो बार समझाने तथा सीताजी को वापिस करने की सलाह पर रावण ने किसी को लात मारी, तो किसी को अपमानित किया और यहाँ तक कि (नानाजी) वरिष्ठ मंत्री माल्यवान को यह कहकर अपमानित किया कि तू बूढ़ा हो गया अन्यथा तूझे मार देता, अब भाग जा, अपना मुँह मुझे नहीं दिखाना। दूसरी ओर मंदोदरी ने एक-दो नहीं, बल्कि चार बार रावण को हर प्रकार से समझाते हुए कहा कि सीताजी को वापिस कर दीजिए, पर रावण ने एक भी बार मंदोदरी पर क्रोध नहीं किया। श्रीरामचरितमानस के अनुसार विवरण इस प्रकार से है-

6.1 श्रीहनुमानजी द्वारा लंका-दहन के पश्चात् मंदोदरी ने रावण को समझाया कि जिसके दूत में इतनी शक्ति है उसे आप नहीं जीत सकेंगे, अतः सीताजी को वापिस कर दें, इसी में भलाई है। इस पर रावण क्रोधित नहीं हुआ, बल्कि यह कहकर कि जिसके डर से लोकपाल काँपते हैं, उसकी पत्नी इस प्रकार भयभीत हो, यह हास्यास्पद है-

सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हें। हित न तुम्हार संभु अज कीन्हें॥ (5/36/10)

कंपहिं लोकप जाकीं त्रसा। तासु नारि सभीत बड़ि हासा।। (5/37/4)

6.2 जब समुद्र पर पुल बनाकर श्रीरामजी वानर सेना के साथ लंका में प्रवेश कर जाते हैं, तब मंदोदरी रावण को पुनः समझाती हुई कहती है कि आप और श्रीरामजी में इतना अंतर है जैसे कि जुगनू (छोटा कीड़ा जिसकी पूँछ में घोर अंधकार में थोड़ा सा प्रकाश दिखाई देता है) और सूर्य। इस पर भी रावण ने क्रोध नहीं किया, बल्कि उसे समझा-बुझाकर पुनः सभा में चला गया-

तुम्हहि रघुपतिहि अंतर कैसा। खलु खद्योत दिनकरहि जैसा।। (6/6/6)

देव दनुज नर सब बस मोरें। कवन हेतु उपजा भय तोरें।।
नाना बिधि तेहि कहेसि बुझाई। सभाँ बहोरि बैठ सो जाई।। (6/8/4-5)

6.3 जब रावण अपने मनोरंजन के लिए लंका शिखर पर नाच-गान का सुख प्राप्त करता है, तब श्रीरामजी एक ही बाण से, जिसे कोई नहीं देख पाया, रावण के मुकुट और मंदोदरी के 'कर्णफूल' को जमीन पर गिरा देते हैं। भयंकर असगुन की आशंका से सभी डर जाते हैं। रावण सभी को समझाता है कि जिसके सिर गिरने पर अशुभ नहीं होता उसके मुकुट गिरने से अशुभ कैसे हो सकता है। इस घटना के पश्चात् मंदोदरी तीसरी बार रावण को समझाते हुए श्रीरामजी के विश्वरूप का वर्णन करती है-

बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वासु।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु।। (6/14)

मंदोदरी रावण को समझाती है कि श्रीरामजी से वैर छोड़ दीजिए ताकि मेरा सुहाग बना रहे। इस पर भी रावण ने क्रोध नहीं किया, बल्कि कहा कि इसी बहाने तुम मेरी प्रशंसा कर रही हो-

जानिउँ प्रिया तोरि चतुराई। एहि बिधि कहहु मोरि प्रभुताई।। (6/16/6)

6.4 श्रीरामजी अपने दूत के रूप में अंगदजी को रावण के दरबार में भेजते हैं। अंगदजी रावण को बहुत प्रकार से समझाते हैं और अंत में अपना पैर जमाकर, जिसे कोई नहीं उठा सका, श्रीरामजी की शक्ति दिखाकर

वापिस लौट जाते हैं। इसके बाद पुनः मंदोदरी चौथी एवं आखिरी बार रावण को समझाते हुए यहाँ तक कह देती है कि अब आप अपनी गप्पें (गाल बजाना) बंद कीजिए और मेरी सलाह मानकर श्रीरामजी से वैर त्याग दीजिए। ऐसे बाण के समान वचनों को सुनकर भी रावण क्रोधित नहीं हुआ और चुपचाप सुबह उठकर सभा में बैठ गया-

अब पति मृषा गाल जनि मारहु। मोर कहा कछु हृदयँ बिचारहु॥ (6/36/7)

नारि बचन सुनि बिसिख समाना। सभाँ गयउ उठि होत बिहाना॥ (6/38/1)

7. रावण का दृढ़ संकल्प

खर-दूषण के वध के पश्चात् रावण समझ गया था कि बिना भगवान के उनको कोई मार नहीं सकता है। इस तामसी शरीर से भजन तो होगा नहीं, अतः श्रीरामजी से वैर करके ही, उनके बाण से मेरी मृत्यु होने में ही मेरा कल्याण है। अपने इसी दृढ़ संकल्प पर रावण अटल रहा।

खर दूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहि को मारइ बिनु भगवंता॥
सुर रंजन भंजन महि भारा। जौं भगवंत लीन्ह अवतारा॥
तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजें भव तरऊँ॥
होइहि भजनु न तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥ (3/23/2-4)

इस प्रकार रावण ने वैर भाव से श्रीरामजी का स्मरण किया और जैसा कि उसने मनसा-वाचा-कर्मणा से इसका दृढ़ संकल्प कर लिया था, अंत में वह सफल हुआ। प्रभु श्रीराम के द्वारा उसकी मृत्यु उसके मोक्ष का कारण बनी। रणक्षेत्र में रावण की मृत्यु के पश्चात् उसका तेज (उसकी आत्मा) श्रीरामजी के मुख में समा गया-

तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि संभु चतुरानन॥ (6/103/9)

इस प्रकार रावण अपने दृढ़ संकल्प के कारण, रामजी से वैरभाव के कारण ही अपना कल्याण कर सका।

रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा

अनंतकाल से चिदानंदमय जीव अपनी अस्मिता को भूलकर, माया के फंदे में फँसकर जन्म-मरण के चक्र में घूम रहा है। चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हुए उस परम प्रभु की असीम कृपा से इसे मानव देह प्राप्त होती है, पर बिरले ही उसका सदुपयोग करके अपना कल्याण कर पाते हैं। उस अखिल ब्रह्माण्डनायक ईश्वर के अवतार लेने का यह भी एक विशेष कारण है कि उनके 'नाम-रूप-लीला-धाम' साधन चतुष्ट्य में से किसी एक का सहारा लेकर अनंतकाल से बिछुड़ा जीव उन्हें प्राप्त कर ले।

इस लेख में ईश्वर के सगुण-साकार स्वरूप भगवान श्रीरामजी के रूप के संदर्भ में कुछ लिखने का प्रयास किया गया है। श्रीरामजी के रूप को जिन्होंने भी देखा, वह अपनी सुधि भूल गए। उनके रूप का वर्णन तो श्रुतियाँ और शेषनाग भी नहीं कर सकते, पर जिसने कभी स्वप्न में भी उस मोहिनी मूरत का दर्शन कर लिया हो वह कुछ समझ सकता है। गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं-

रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानइ सपनेहुँ जेहिं देखा।। (1/199/12)

श्रीरामजी के रूप का दर्शन करके जो-जो भक्त कृतार्थ हुए, उनका अति संक्षिप्त विवरण श्रीरामचरितमानस के अनुसार इस प्रकार से है-

1. मनु-शतरूपा ने बहुत समय तक राजपाट संभाला, पर इससे उन्हें विरक्ति हो गई कि सारा जीवन भगवत् भजन बिना चला गया। वे अपने पुत्र को बरबस राजपाट सौंपकर सपत्नीक नैमिषारण्य गए और वहाँ पर उन्होंने उग्र तप किया, जिससे प्रसन्न होकर कई बार ब्रह्मा, विष्णु, महेश आए और वर माँगने को कहा, किंतु वे तो उनके भी जनक अखिल ब्रह्माण्डनायक के दर्शन करना चाहते थे। उनकी इस जिज्ञासा को भगवान ने पूर्ण किया और वे उनके समक्ष प्रकट हो गए। राजा-रानी उनकी अनुपम छवि को देखकर पलक बंद करना भूल गए-

भगत बछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥ (1/146/8)

भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥
छबिसमुद्र हरि रूप बिलोकी। एकटक रहे नयन पट रोकी॥
चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥ (1/148/4-6)

जब भगवान ने वर माँगने को कहा, तब उन्होंने उन्हीं को पुत्र रूप में माँग लिया और इस प्रकार से उन्होंने जीवनपर्यन्त (अगले जन्म में दशरथ-कौसल्या के रूप में) उस रूप माधुरी का दर्शन किया और सारे जगत को भी उस अनुपम छवि का दर्शन कराया।

2. मुनि विश्वामित्र राक्षसों के आतंक से दुखी होकर उनके संहार हेतु महाराज दशरथ से श्रीराम-लक्ष्मण को माँगने जाते हैं और यह भी विचार करते जाते हैं कि इसी बहाने अखिल ब्रह्माण्डनायक के सगुण स्वरूप का दर्शन करेंगे। वे श्रीरामजी के स्वरूप को देखकर अपनी देह की सुधि भूल गए-

पुनि चरननि मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी॥ (1/207/5)

3. अपने यज्ञ को पूर्ण करके विश्वामित्रजी श्रीराम-लक्ष्मण के साथ जब महाराज जनक की नगरी पहुँचे, तब उनकी अगवानी के लिए महाराज जनक विप्र मंडली के साथ पहुँचे। सदैव ब्रह्मज्ञान में लीन रहने वाले, विदेह कहलाने वाले महाराज जनक श्रीरामजी की मोहिनी मूरत को देखकर वास्तव में विदेह हो गए अर्थात् अपनी देह की सुधि भूल गए-

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥ (1/215/8)

4. विश्वामित्रजी से आज्ञा पाकर श्रीराम-लक्ष्मण जनकपुरी दर्शनार्थ जाते हैं। उनको देखने के लिए जनसमूह उमड़ पड़ता है। जो स्त्रियाँ बाहर नहीं निकल सकती थीं, वे खिड़कियों से ही श्रीरामजी के रूप को देखकर मोहित हो जाती हैं-

जुबतीं भवन झरोखन्हि लागीं। निरखहिं राम रूप अनुरागीं॥
कहहिं परस्पर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती॥ (1/220/4-5)
कहहु सखी अस को तनु धारी। जो न मोह यह रूप निहारी॥ (1/221/1)

5. श्रीराम-लक्ष्मण मुनि विश्वामित्र की आज्ञानुसार पुष्प लेने जब पुष्प वाटिका जाते हैं, तब उसी समय सीताजी भी गौरी-पूजन के लिए पुष्प वाटिका में आयीं। एक सखी की सलाह पर सीताजी श्रीरामजी के दर्शन के लिए उस ओर जाती हैं, जहाँ पर श्रीरामजी पुष्प चुन रहे थे। उनके स्वरूप को देखकर सीताजी के नेत्र खुले ही रह गए-

थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें॥ (1/232/5)

6. धनुष-भंग के पश्चात् परशुरामजी रौद्र रूप में जनकपुरी आते हैं। विश्वामित्रजी उनको श्रीराम-लक्ष्मण का परिचय कराते हैं। श्रीरामजी के अनुपम स्वरूप को देखकर उनके नेत्र थकित रह गए अर्थात् नेत्र उन्हीं की छवि देखते रह गए।

रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन॥ (1/269/8)

7. वनवास काल में श्रीरामजी महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में जाते हैं। श्रीरामजी उन्हें दण्डवत प्रणाम करते हैं और वे आशीर्वाद देते हैं। श्रीरामजी के मुखारविन्द की छवि देखकर वाल्मीकिजी के नेत्र तृप्ति को प्राप्त करते हैं-

देखि राम छबि नयन जुड़ाने। करि सनमानु आश्रमहिं आने॥ (2/125/2)

8. महर्षि वाल्मीकि की आज्ञानुसार श्रीरामजी जानकीजी और लक्ष्मणजी के साथ चित्रकूट जाते हैं। वहाँ पर आदिवासी कोल-भील सभी श्रीरामजी की छवि को देखकर अत्यंत अनुरागमय हो जाते हैं। वे दोना भर-भरकर कंद-मूल-फल भेंट में देते हुए बारम्बार प्रणाम करते हैं-

यह सुधि कोल किरातन्ह पाई। हरषे जनु नव निधि घर आई॥
कंद मूल फल भरि भरि दोना। चले रंक जनु लूटन सोना॥ (2/135/1-2)

करहिं जोहारु भेंट धरि आगें। प्रभुहि बिलोकहिं अति अनुरागे॥ (2/135/5)

9. चित्रकूट प्रवास के पश्चात् श्रीरामजी वहाँ से अन्यत्र जाने का विचार करके अपनी कुटिया से निकलकर सर्वप्रथम अत्रि मुनि के आश्रम में जाते हैं। अत्रिजी तो चित्रकूट में कई बार श्रीरामजी का दर्शन कर चुके थे, किंतु अपने आश्रम में आया देखकर **अति निकट से उनके दर्शन**

करके उनके नेत्र जुड़ा गए अर्थात् परमानंद का अनुभव करने लगे।

देखि राम छबि नयन जुड़ाने। सादर निज आश्रम तब आने॥ (3/3/7)

जब श्रीरामजी महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में पधारे और उनसे पूछा कि वे कहाँ रहें ताकि किसी को कष्ट न हो, तब महर्षि ने व्यंग्यात्मक रूप से उन्हीं से पूछ लिया कि आप कहाँ नहीं हैं अर्थात् आप तो सर्वत्र विराजमान हैं, तथापि उन्होंने 14 भक्तों के मन-हृदय को बताया जहाँ श्रीसीता-लक्ष्मण सहित वे निवास करें। उनमें से एक स्थान इस प्रकार से है-

लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी॥
तिन्ह कें हृदय सदन सुखदायक। बसहु बधु सिय सह रघुनायक॥ (2/128/6-8)

10. अत्रि मुनि के आश्रम से आगे चलकर श्रीरामजी अगस्त्य मुनि के शिष्य सुतीक्ष्णजी के आश्रम के समीप जाते हैं। प्रभु राम के आने का समाचार सुनकर सुतीक्ष्णजी ध्यानस्थ हो जाते हैं, तब श्रीरामजी उन्हें ध्यान में ही अपना चतुर्भुज रूप दिखाते हैं, जिसे देखकर वे अकुलाकर उठते हैं, क्योंकि वे तो श्रीरामजी का नर-रूप ही देखना चाहते थे। जैसे ही उनका ध्यान टूटा, श्रीरामजी उनके सम्मुख खड़े दिखाई दिए। वे श्रीरामजी का दर्शन करते हुए ऐसे लग रहे थे मानो किसी ने उनकी मूर्ति वहाँ खड़ी कर दी हो-

राम बदनु बिलोक मुनि ठाढ़ा। मानहुँ चित्र माझ लिखि काढ़ा॥ (3/10/24)

11. दण्डकारण्य के पंचवटी स्थल पर प्रवास के समय रावण की बहिन शूर्पणखा श्रीरामजी के रूप पर मोहित हो गई और सुन्दर वेश धारण करके उनसे विवाह का प्रस्ताव रखा। श्रीरामजी ने उसे लक्ष्मणजी के पास भेजा और वहाँ से फिर श्रीरामजी के पास आकर क्रोधित होकर सीताजी को डराने के उद्देश्य से भयंकर रूप धारण कर लेती है, तब श्रीरामजी से संकेत प्राप्त कर लक्ष्मणजी ने उसके नाक-कान काट देते हैं। शूर्पणखा के भड़काने पर खर-दूषण श्रीरामजी पर आक्रमण करने आते हैं, किंतु श्रीरामजी की सुंदरता को देखकर वे कहते हैं-

प्रभु बिलोकि सर सकहिं न डारी। थकित भई रजनीचर धारी॥
सचिव बोलि बोले खर दूषन। यह कोउ नृपबालक नर भूषन॥
नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥
हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥ (3/19/1-4)

12. सीता हरण के पश्चात् भक्तिमती शबरी के परामर्श से श्रीरामजी सीतान्वेषण हेतु किष्किंधा पर्वत की ओर जाते हैं। बालि-त्रास ग्रस्त सुग्रीव उन्हें देखकर भयभीत हो जाता है और श्रीहनुमानजी को उनके बारे में पता लगाने को भेजता है। श्रीहनुमानजी विप्र रूप में आकर वार्तालाप करते हैं और जब यह जान जाते हैं कि ये तो अखिल ब्रह्माण्ड नायक ब्रह्म का अवतार हैं, तब वे पुलकायमान शरीर से उनकी छवि देखते ही रह जाते हैं-

पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना॥ (4/2/6)

13. सीतान्वेषण के समय लंका में श्रीहनुमानजी भक्त विभीषण से मिले और उन्हें श्रीरामजी के स्वरूप एवं स्वभाव का दर्शन कराया, इससे उन्हें अपने भाई रावण को सत्य बात बताने का साहस हुआ, किंतु उन्हें लात मारकर भगा दिया गया। विभीषण श्रीरामजी की शरण में आते हैं। वे मार्ग में विचार कर रहे थे कि उन चरणों का दर्शन करूँगा, जिनके स्पर्श से अहिल्या का उद्धार हुआ, जो चरण दंडकवन को पावन करने वाले हैं, जो चरण जानकीजी ने हृदय में धारण किए हुए हैं, जो चरण कपटी मृग के पीछे दौड़े हैं, जो चरण कमल शिवजी के हृदय रूपी सरोवर में विराजते हैं और जिन चरणों की पादुकाओं में भरतजी का मन रमा हुआ है, किंतु जब वे श्रीरामजी के पास आए, तब उनकी छवि देखकर वहीं अटक गए और टकटकी लगाकर देखते ही रह गए-

बहुरि राम छबिधाम बिलोकी। रहेउ ठटुकि एकटक पल रोकी॥ (5/45/3)

14. लंका में जिस समय रावण ने युद्ध का यह समाचार सुना कि लक्ष्मणजी की मूर्छा दूर हो गई अर्थात् मेघनाद का प्रहार असफल रहा, तब उसने अपने भाई कुंभकर्ण को निद्राग्रस्त अवस्था से बहुत प्रयास करके जगाया और जागने पर सीताहरण से लेकर युद्ध तक का पूरा वृत्तांत

सुनाया, जिसे सुनकर कुंभकर्ण ने उसे धिक्कारा और कहा कि अब समय नहीं है मुझे भेंटो। अब मैं तो उस परम प्रभु के दर्शन करके नेत्रों को सफल करूँगा–

अब भरि अंक भेंटु मोहि भाई। लोचन सुफल करौं मैं जाई॥
स्याम गात सरसीरुह लोचन। देखौं जाइ ताप त्रय मोचन॥ (6/63/7–8)

15. वनवास काल की समाप्ति के पश्चात् श्रीरामजी जब अयोध्या आए, तब सभी नगरवासी, जो उनके विरह में 14 वर्षों तक व्रत–साधना में लीन थे, अत्यंत हर्षित हुए। श्रीरामजी सभी से यथायोग्य मिले। राज्याभिषेक का समय आया तब श्रीरामजी ने आभूषण धारण किए। उनकी छवि को देखकर सैकड़ों कामदेव लज्जित हो रहे थे। इस स्वरूप को देखकर आज गुरु वसिष्ठजी का भी मन अनुरागमय हो गया–

करि मज्जन प्रभु भूषन साजे। अंग अनंग देखि सत लाजे॥ (7/11/8)

प्रभु बिलोकि मुनि मन अनुरागा। तुरत दिब्य सिंघासन मागा॥ (7/12/1)

16. राज्याभिषेक के पश्चात् एक बार श्रीरामजी अपने भाइयों और हनुमानजी के साथ एक उपवन में गए, जहाँ पर सनकादि ऋषि उनके दर्शनार्थ पधारे। चारों ऋषि श्रीरामजी की अतुलित छवि देखकर प्रेममग्न हो गए–

मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी। भए मगन मन सके न रोकी॥
स्यामल गात सरोरुह लोचन। सुंदरता मंदिर भव मोचन॥
एकटक रहे निमेष न लावहिं। प्रभु कर जोरें सीस नवावहिं॥ (7/33/2–4)

इस प्रकार से प्रभु रूप दर्शन नाम–रूप–लीला–धाम के अनुसार भक्ति का एक स्वरूप है और हम इसे अपनाकर अर्थात् श्रीरामचरितमानस में वर्णित उपर्युक्त प्रसंगों तथा अन्य ऐसे ही प्रसंगों, जिनमें श्रीरामजी की अलौकिक छवि का वर्णन है, प्रभु श्रीराम की छवि का स्मरण करके मानव जन्म के परम लक्ष्य 'भगवत्प्राप्ति' कर सकते हैं।

राम सदा सेवक रुचि राखी

अखिल ब्रह्माण्डनायक सर्वशक्तिमान सर्वव्यापी परमात्मा ने मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम के रूप में जो लीलाएँ की हैं, उनकी झाँकियाँ हमें उनके अनन्य भक्त गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी द्वारा रचित श्रीरामचरितमानस में मिलती हैं। ऐसी ही एक झाँकी है-चित्रकूट की, जब अपने भाई को मनाने श्रीभरतजी अयोध्यावासियों सहित प्रयाग पार करके चित्रकूट की ओर बढ़ रहे हैं। राक्षसों के संहार के लिए श्रीरामजी वनवास में हैं और यदि भरतजी कहेंगे तो श्रीरामजी को वापिस अयोध्या लौटना होगा, यही देवताओं की चिंता है, क्योंकि-**राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी।।** (2/219/7)। भरत की श्रीराम के प्रति सेवाभाव की प्रशंसा में लिखा है कि **भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही।।** (2/218/7) भरतजी को केवल अपने स्वामी श्रीराम की ही चिंता है, यह तथ्य उनकी भरद्वाज मुनि के साथ हुई वार्ता से स्पष्ट है, यथा-

मोहि न मातु करतब कर सोचू। नहिं दुखु जियँ जग जानहि पोचू।।
नाहिन डर बिगरिहि परलोकू। पितहु मरन कर मोहि न सोकू।।
सुकृत सुजस भरि भुअन सुहाए। लछिमन राम सरिस सुत पाए।।
राम बिरहँ तजि तन छनभंगू। भूप सोच कर कवन प्रसंगू।।
राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं।। (2/211/4-8)

एहि दुख दाहँ दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती।। (2/212/1)

इस प्रकार देवराज इन्द्र की आशंका और प्रबल हो गई कि अब बना बनाया काम बिगड़ने वाला है, अतः अपने गुरु बृहस्पतिजी से निवेदन करते हैं कि कुछ ऐसा करें कि भरतजी और रामजी का मिलन ही न हो। इस पर बृहस्पतिजी इन्द्र को सचेत करते हुए कहते हैं-

जो अपराधु भगत का करई। राम रोष पावक सो जरई।। (2/218/5)

अब तो इन्द्र और सभी देवताओं को एक ही आश्रय था-'भरत की शरण

में जाना' और जब यह भाव उनके मन में आ गया तो उनके गुरुजी ने कहा कि अब तुम्हारा निश्चित ही कल्याण होगा, क्योंकि-

भरत भगति तुम्हरें मन आई। तजहु सोच बिधि बात बनाई॥ (2/266/2)

देवगुरु ने इंद्र को स्मरण दिलाया कि-

राम भगत परहित निरत पर दुख दुखी दयाल।
भगत सिरोमनि भरत तें जनि डरपहु सुरपाल॥ (2/219)

भरत मिलाप के पश्चात् जब राजा जनक भी मिथिला से आ जाते हैं, तब श्रीरामजी के अयोध्या लौटने के बारे में कई दिनों तक विचार विमर्श होता रहा, किंतु कोई समाधान नहीं निकला। अन्ततः श्रीभरतजी ने यही कहा-

जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुना सागर कीजिअ सोई॥ (2/269/2)

इस प्रकार से श्रीरामजी अपने सेवक की रुचि रखते हैं, किंतु यह भी सत्य है कि सच्चे सेवक की अपनी कोई रुचि या चाह नहीं होती है, प्रभु की चाह ही उसकी चाह होती है और प्रभु की इच्छा में ही उसकी इच्छा। इस संदर्भ में एक कवि ने लिखा है-

मुझे नहीं हो कभी किसी भी भाँति कहीं कैसी भी चाह।
उठे कदाचित तो प्रभु उसे न करना पूरी कर परवाह॥
प्यारे यही प्रार्थना मेरी यही नित्य चरणों में माँग।
मिटे सदा मैं - मेरा बढ़ता रहे सतत् अनन्य अनुराग॥

इस प्रसंग में श्रीरामजी ने भरतजी की चाह रखी, क्योंकि भरतजी श्रीरामजी की इच्छा के अनुसार ही करना चाहते थे और श्रीरामजी तो अपने पिता की आज्ञा पालन हेतु दृढ़ संकल्पित थे। भरतजी पूरे समाज के साथ अयोध्या लौट आए। अयोध्या लौटकर श्रीरामजी की चरण पादुकाओं को सिंहासनासीन कर उन्हीं से आज्ञा लेकर राजकाज चलाते रहे तथा नंदिग्राम में रहकर तप में लीन रहे।

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥ (2/325)

इसी प्रकार सेवक की रुचि रखने का एक और उदाहरण विभीषण

शरणागति के समय का है। श्रीरामजी के दर्शन के पश्चात् विभीषण कहते हैं-

उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥ (5/49/6)

इस पर श्रीरामजी कहते हैं-

जदपि सखा तब इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघ जग माहीं॥
अस कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन बृष्टि नभ भई अपारा॥ (5/49/9-10)

इस प्रकार से श्रीरामजी अपने सेवक की वह इच्छा भी पूर्ण करते हैं जो पहले कभी थी, किंतु अब वह चाहता भी नहीं है, तथापि श्रीरामजी उस दबी हुई इच्छा को भी पूरा कर देते हैं। इसके विपरीत एक अन्य झाँकी दिखाई देती है नारद-मोह प्रसंग में, जब नारदजी मोहवश श्रीरामजी के रूप को मांगते हुए कहते हैं-

आपन रूप देहु प्रभु मोही। आन भाँति नहिं पावौं ओही॥
जेहि बिधि नाथ होइ हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा॥ (1/132/6-7)

इस प्रकार श्रीरामजी कहते हैं-

जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार॥ (1/132)

कुपथ माग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥
एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ। कहि अस अंतरहित प्रभु भयऊ॥ (1/133/1-2)

श्रीरामजी ने अपना रूप न देकर उन्हें बंदर का रूप दिया, जो कि केवल उस राजकन्या को ही दिखाई दिया, जिससे वे विवाह करने के इच्छुक थे। अन्य सभी को वे नारद ही दिखाई पड़े, यथा-

मुनि हित कारन कृपानिधाना। दीन्ह कुरूप न जाइ बखाना॥
सो चरित्र लखि काहुँ न पावा। नारद जनि सबहिं सिर नावा॥ (1/133/7-8)

अतः यह स्पष्ट है कि श्रीरामजी अपने भक्त की इच्छा अवश्य रखते हैं, किंतु यदि भक्त मोहवश अकल्याणकारी वस्तु माँगने लगे, तो वे वह इच्छा पूरी नहीं करते हैं, क्योंकि वे एक माँ की तरह अपने भक्त का ध्यान रखते हैं। प्रभु ने स्वयं कहा है-

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ (3/43/8)

करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥ (3/43/5)

भक्त सुधार की प्रक्रिया में कभी-कभी भक्त को कुछ कष्ट होता दिखाई देता है, किंतु उसके कल्याण का ध्यान रखते हुए प्रभु उसके छोटे-मोटे कष्ट की परवाह न करके उसका परम कल्याण करते हैं, ठीक उसी प्रकार से जैसे कि एक माँ अपने बच्चे के फोड़े को चीरा लगवाती है, यथा-

जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥ (7/74/8)

इस प्रकार से हमें प्रभु का सच्चा सेवक/भक्त बनने का प्रयास करना है। एक बार प्रभु का हो जाने पर हमारी सारी चिंताएँ स्वयं मिट जाएँगी, क्योंकि फिर हमारे लिए प्रभु चिंता करेंगे, हमें तो सिर्फ उनकी शरण में जाने की आवश्यकता है। शरण जाने के लिए हमें अपना मन निर्मल बनाना होगा, क्योंकि प्रभु ने स्वयं कहा है-

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥ (5/44/5)

निर्मल मन करने के कई साधन ऋषि मुनियों ने बताए हैं। अपनी-अपनी रुचि के अनुसार हम साधना का मार्ग चुन सकते हैं। सबसे सरल साधन है, प्रभु का नाम स्मरण।

सुमिरन मेरे नाम का करना ये ही सहज सहारा।
सब कुछ तुम पाओगे प्यारे मानो वचन हमारा॥ (भक्ति पुष्प)

इस प्रकार से श्रीरामजी के पावन नाम का स्मरण करते हुए यदि हम अपने कार्य कलाप करते हैं तो निश्चित ही प्रभु के कृपा पात्र बन जाएँगे। अमृतवाणी में भी यही लिखा है-

जितने करतब करम कलाप। करिए राम राम कर जाप॥

प्रारंभ में यह आवश्यक नहीं है कि हम भावपूर्वक प्रेम से ही जप-स्मरण करें। मानस में लिखा है-

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥ (1/28/1)

सतत् अभ्यास से कुभाव स्वतः भाव में बदल जाएगा तथा स्वतः प्रेम जाग्रत हो जाएगा। प्रभु चरणों में अनुराग उत्पन्न हो जाएगा और अनुराग होने पर जीव का कल्याण निश्चित है, क्योंकि-

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा।। (7/62/1)

इस प्रकार से प्रभु नाम स्मरण से हम प्रभु के सच्चे सेवक/भक्त बन जाएँगे और तब प्रभु हमारी इच्छाओं को, जिन्हें वे ठीक समझेंगे, अवश्य पूरा करेंगे। इस अवस्था में फिर हमें कभी कोई चिंता न सताएगी और हम सुख-दुख से ऊपर उठकर सतत् परमानन्द में विभोर रहेंगे, यथा-

फिरत सनेहँ मगन सुख अपनें। नाम प्रसाद सोच नहिं सपने।। (1/25/8)

यह सब प्रभु कृपा से संभव है और प्रभु कृपा हमारे जीवन को सूर्य की किरणों की तरह अनवरत प्रकाशित कर रही है, किंतु हम उसको प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। यदि कोई किसी बंद कमरे में बैठ जाए और यदि उसे सूर्य का प्रकाश न मिले तो इसमें सूरज का क्या दोष? अतः हमें चाहिए कि हम व्यर्थ की चिंताओं को छोड़कर प्रभु नाम का सतत् चिंतन करें, यह दृढ़ विश्वास रखकर कि-

राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी।। (2/219/7)

रामकथा श्रवण-गायन-कथन-चिंतन से परमगति

प्राणी जब तक अपना लक्ष्य निर्धारित नहीं कर लेता है, तब तक वह इधर-उधर भटकता ही रहता है, अतः हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य है-जीवन के लक्ष्य का निर्धारण। अपना तथा अपने परिवार का भरण-पोषण करना, अपने लिए सुख-सुविधाएँ जुटाना आदि यह सब हमारे जीवन का लक्ष्य नहीं है। यह तो सभी जीव, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि अपने सामर्थ्यानुसार कर ही लेते हैं। विचारणीय है कि फिर हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है अर्थात् किस उद्देश्य से यह मानव जीवन मिला है। इस संदर्भ में श्रीरामजी अयोध्यावासियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं-

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥ (7/44/1-2)

अर्थात् मानव शरीर पाकर विषयभोगों में लिप्त रहना ठीक वैसे ही है, जैसे कोई अमृत के बदले विष ले लेता है। अब विचार करना है कि हमारा लक्ष्य क्या होना चाहिए। लक्ष्य निर्धारण अत्यावश्यक है। वेद-पुराण शास्त्र सभी का एकमत है कि ईश्वर से बिछुड़ा हुआ जीव जब तक ईश्वर को प्राप्त नहीं कर लेता है, तब तक वह चौरासी लाख योनियों में चक्कर काटता रहता है। मनुष्य योनि भोग योनि के साथ-साथ कर्म योनि भी है, अन्य सभी योनियाँ, चींटी से लेकर ब्रह्मा तक भोग योनियाँ हैं।

श्रीरामजी के बाण से जब रावण का अंत हुआ, तब उसका तेज प्रभु के मुख में समा गया अर्थात् जीवात्मा का परमात्मा में विलय हो गया। यह दृश्य देखकर ब्रह्माजी और शिवजी हर्षित हुए, किंतु अन्य देवगणों ने इसे आश्चर्यचकित होकर देखा। यह तथ्य उन्होंने उस समय प्रकट किया, जब वे रणांगण में श्रीरामजी की स्तुति करने आए, वे कहते हैं-

यह खल मलिन सदा सुरद्रोही। काम लोभ मद रत अति कोही॥
अधम सिरोमनि तव पद पावा। यह हमरें मन बिसमय आवा॥

हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ रत प्रभु भगति बिसारी॥
भव प्रबाहँ संतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे॥ (6/110/9-12)

अर्थात् देवता कह रहे हैं कि इस परमगति के अधिकारी तो हम हैं, किंतु स्वार्थवश हमने आपकी भक्ति भुला दी, इसीलिए संसार सागर में अर्थात् भव प्रवाह (आवागमन-जन्म मृत्यु के चक्र) में पड़े हुए हैं। इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि संभवतः उन देवताओं के संज्ञान में वह ईश्वरीय विधान नहीं होगा जो गीता में भगवान श्रीकृष्णजी ने अर्जुन को बताया था, यथा-

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैश्यस्यसंशयम्॥ (8/6-7)

अर्थात् मनुष्य अन्तकाल में जिस-जिस भी भाव को स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है। इसलिए तू सब समय में निरंतर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किए हुए मन-बुद्धि से युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा। उपर्युक्त सिद्धांत ब्रह्माजी और शिवजी जानते थे। वे जानते थे कि रावण अंतकाल में श्रीरामजी का ही स्मरण कर रहा था। मरते समय उसने कहा था, **'कहाँ रामु रन हतौं पचारी'** (6/103/4)। इस कारण से रावण को परमगति प्राप्त होते देखकर उन्होंने आश्चर्य नहीं माना, बल्कि सुख का अनुभव किया, यथा-

तासु तेज समान प्रभु आनन। हरषे देखि संभु चतुरानन॥ (6/103/9)

एक चींटी से लेकर ब्रह्मा तक सभी जीव हैं और भव प्रवाह में फँसे हुए हैं। इस तथ्य को स्वयं श्रीरामजी ने काकभुशुंडिजी को इस प्रकार से बताया है-

सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥ (7/86/4, 8-10)

अर्थात् भगवान कहते हैं कि भक्ति विहीन ब्रह्मा भी मुझे अन्य सभी जीवों के समान ही प्रिय हैं, किंतु मेरा भक्त वह चाहे अति नीच प्राणी हो, मुझे सर्वाधिक प्रिय है।

विचारणीय है कि यदि साधना करते-करते ब्रह्मा भी बना दिए जाएँ, तब भी कोई लाभ नहीं है, क्योंकि वह भी तो अन्य जीवों की तरह भवसागर में फँसे हुए हैं, अतः मानव शरीर पाकर परम लक्ष्य यही है कि इस शरीर में जीवात्मा के रहते हुए भगवत्प्राप्ति हो जाए। इस हेतु शास्त्रों ने तीन मार्ग निर्धारित किए हैं-ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग। कर्मयोग तो उभयनिष्ठ है अर्थात् चाहे ज्ञानयोग का आश्रय लिया जाए और चाहे भक्तियोग का, कर्मयोग तो करना ही पड़ेगा, पर सकाम कर्म बंधन का कारण है और निष्काम कर्मयोग बंधन का कारण नहीं बनता, ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार भुने हुए चना से अंकुर नहीं निकलता। अपनी-अपनी रुचि और पूर्व जन्मों के संस्कारों से जिसमें जिसकी रुचि हो अर्थात् ज्ञानयोग या भक्तियोग अपनाकर भवसागर से पार जाने का परम लक्ष्य प्राप्त करना चाहिए। श्रीरामचरितमानस के अनुसार भक्तियोग (भक्तिमार्ग) सरल है, यथा-

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥ (7/45/5)

इस प्रकार यह सूत्र समझ में आता है कि आत्मोद्धार हेतु सत्संग आवश्यक है, पर सत्संग कहाँ मिलेगा, इसका उत्तर मानस के प्रारंभ में लिखा है कि यह-सभी को सब समय सभी देशों में उपलब्ध है, यथा-

सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥ (1/2/12)

यदि किसी तत्वज्ञानी, भक्त, सज्जन पुरुष आदि का साथ न मिल सके तो सद्ग्रन्थ का सहारा लीजिए और इसमें सर्वोत्तम सहारा है-श्रीरामचरितमानस का। 'मानस' में हरि-कथा है और हरिकथा श्रवण से मोह दूर होगा और मोह दूर होते ही श्रीरघुनाथजी के चरणों में प्रेम उत्पन्न हो जाएगा, यही इस जीवन का परम लक्ष्य है, यथा-

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥ (7/61)

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग जप ग्यान बिरागा॥ (7/62/1)

श्रीरामजी के चरणों में अनुराग हो जाए इसके लिए श्रीरामचरितमानस के पठन-पाठन, वाचन, चिंतन और गायन एक उत्तम साधन है, यथा-

जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥
होइहहिं राम चरन अनुरागी। कलि मल रहित सुमंगल भागी॥ (1/15/10-11)

युगधर्म के अनुसार भगवत्प्राप्ति (परम लक्ष्य) के साधन अलग-अलग हैं। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी॥
त्रेताँ बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं॥
द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥
कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥ (7/103/1-4)

अर्थात् सत्युग में ध्यान से, त्रेता में यज्ञ से, द्वापर में पूजा से प्राणी भवसागर से पार हो जाते हैं, किंतु कलियुग में 'हरिगुण-गान' ही सहारा है। उल्लेखनीय है कि 'राम-राम-राम' या श्रीरामजी के किसी मंत्र जैसे ''ऊँ रां रामाय नमः'' या ''श्रीराम जय राम जय जय राम'' का जप करना अथवा श्रीरामचरितमानस का पाठ एवं इसका मनन-चिंतन एक ही बात है, क्योंकि इसमें सर्वत्र श्रीरामजी का नाम व्याप्त है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'मानस' के प्रारंभ में ही इस सिद्धांत को निरूपित किया है, यथा-

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥ (1/10/1)

जीवन का परम लक्ष्य परमगति प्राप्त करने हेतु श्रीरामकथा का पठन-पाठन, श्रवण, गायन या मनन-चिंतन को श्रीरामचरितमानस के विभिन्न प्रसंगों में निरूपित किया गया है। कुछ प्रसंग यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं-

(1) जगजननी पार्वती द्वारा भगवान शिव से अखिल ब्रह्माण्डनायक भगवान श्रीराम के अवतार (जन्म) का हेतु पूछने पर शिवजी यह कहते हैं -

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥ (1/121)

सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥ (1/122/1)

इस प्रसंग में यही भाव है कि श्रीराम कथा गायन से भक्तगण सहज ही भवसागर पार हो जाते हैं।

(2) अहिल्या-उद्धार के प्रसंग में गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं कि बिना कारण के दया करने वाले दीनबंधु भगवान श्रीराम का सभी प्रकार के कपट और जंजाल त्यागकर मूर्ख मन भजन कर, यथा-

अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ तेहि भजु छाड़ि कपट जंजाल॥ (1/211)

(3) भक्तिमती शबरी के प्रसंग में लिखते हैं कि सब कुछ त्यागकर अर्थात् सबसे आसक्ति का त्याग करके विश्वास करके श्रीरामजी के चरणकमलों में अनुराग उत्पन्न हो, वही कर्म किया जाए, यथा -

नर बिबिध कर्म अधर्म बहु मत सोकप्रद सब त्यागहू।
बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू॥ (3/36/छंद)

(4) अरण्यकाण्ड के समापन में लिखा है कि जो लोग भगवान के इस पावन चरित्र का श्रवण-गायन करेंगे उन्हें दृढ़ भक्ति अर्थात् अविरल रामभक्ति प्राप्त होगी, यथा-

रावनारि जसु पावन गावहिं सुनहिं जे लोग।
राम भगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग॥ (3/46क)

(5) सीतान्वेषण को तत्पर वानर-भालुओं को सम्बोधित करते हुए वानरराज सुग्रीव कहते हैं कि मन-वचन-कर्म से सब लोग ऐसा करो कि रामचन्द्रजी का यह कार्य पूर्ण हो जाए। बालि-वध से सुग्रीव यह समझ गए थे कि श्रीरामजी भगवान के अवतार हैं, अतः वे यह उपदेश भी वानर-भालुओं को दे रहे हैं-

देह धरे कर यह फल भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥ (4/23/6)

अर्थात् शरीर धारण का यही फल (उद्देश्य) है कि सभी कामनाओं का त्याग करके श्रीरामजी का भजन किया जाए।

(6) सीताजी की खोज करने जाते हुए श्रीहनुमानजी को श्रीजामवंतजी ने सलाह दी कि तुम केवल सीताजी का समाचार लेकर आओ। तत्पश्चात्

स्वयं श्रीरामजी हम सबके साथ लंका में जाकर राक्षसों का संहार करेंगे। उनका यह यश त्रिलोकी में व्याप्त हो जाएगा और जो इस कथा को कहेंगे, सुनेंगे और समझेंगे वे परमपद (जीवन का परम लक्ष्य) के अधिकारी हो जाएँगे, यथा-

कपि सेन संग सँघारि निसिचर रामु सीतहि आनिहैं।
त्रैलोक पावन सुजसु सुर मुनि नारदादि बखानिहैं॥
जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई।
रघुबीर पद पाथोज मधुकर दास तुलसी गावई॥ (4/30/छंद)

(7) सुन्दरकाण्ड के समापन पर लिखा है कि जो आदरपूर्वक अर्थात् श्रद्धा-विश्वास के साथ श्रीरामजी का गुणगान (श्रीरामचरितमानस) को सुनेंगे वे सहज ही इस भवसागर से पार हो जाएँगे, यथा-

सकल सुमंगल दायक रघुनायक गुन गान।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव सिंधु बिना जलजान॥ (5/60)

(8) लंकाकाण्ड के समापन में भी यही संदेश है कि इस कलियुग में भव पार जाने का श्रीरघुनाथजी के 'नाम' को छोड़कर और कोई आधार नहीं है अर्थात् और कोई साधन नहीं है, यथा-

यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार।
श्रीरघुनाथ नाम तजि नाहिन आन अधार॥ (6/121ख)

(9) काकभुशुंडिजी श्रीरामकथा का महत्त्व समझाते हुए गरुड़जी से कहते हैं कि सकाम भाव से भी श्रीराम कथा श्रवण और गायन से इस संसार में प्राणी सुर दुर्लभ सुख प्राप्त करके अंतकाल में श्रीरघुनाथजी के लोक साकेतधाम को जाते हैं अर्थात् जीवन का परम लक्ष्य (परमगति) प्राप्त करते हैं, यथा-

जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना बिधि पावहिं॥
सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंतकाल रघुपति पुर जाहीं॥ (7/15/3-4)

(10) कलियुग के गुण-दोषों का वर्णन करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं कि

अगणित दोष होते हुए भी कलियुग में एक विशिष्ट गुण यह है-

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥ (7/103क)

(11) श्रीरामचरितमानस के समापन पर अंतिम चौपाइयों के रूप में गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं कि इस कलिकाल में योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत पूजा कोई भी साधन सुलभ नहीं है, क्योंकि मानव के पास न इतना समय है और न साधन, अतः एक ही उपाय है जीवन के परम लक्ष्य प्राप्त करने का कि श्रीरामजी का स्मरण करें और उन्हीं का गुणगान करें, यथा-

एहिं कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा॥
रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥ (7/130/5-6)

कई लोग कहा करते हैं कि हम इतना 'नाम जप' करते हैं, इतनी कथा कहते-सुनते हैं, फिर भी मन को शांति नहीं मिलती है। इसका प्रमुख कारण है मन के अंदर का विक्षेप (मल)। गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं कि मन-वचन-कर्म से चतुराई (छल-कपट) त्यागकर भजन करने से ही भगवान कृपा करते हैं और भगवान की कृपा के बिना सुख-शांति प्राप्त करना संभव नहीं है-

मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥ (1/200/6)

स्वयं श्रीरामजी ने कहा है कि उन्हें छल कपट पसंद नहीं है, उन्हें निर्मल मन वाला प्राणी ही पा सकता है, यथा-

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥ (5/44/5)

अब प्रश्न उठता है कि निर्मल मन कैसे बने। इसका समाधान करते हुए श्रीरामचरितमानस के अंतिम छंद के रूप में लिखा है कि श्रीरघुनाथजी के इस पावन चरित्र को जो कहेंगे, सुनेंगे और गायन करेंगे, वे बिना श्रम के ही कलियुग के तथा मन के मल (विक्षेप) को दूर करके श्रीरघुनाथजी के धाम को जाएँगे, यथा-

रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।

कलि मल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं॥ (7/130/छंद)

श्रीरामचरितमानस के प्रारंभ में भी यही सिद्धांत लिखा है -

मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की। (1/10/छंद)

अर्थात् श्रीरघुनाथजी की कथा मंगलकारिणी और कलियुग के मल को हरण करने वाली है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन के परम लक्ष्य भगवत् प्राप्ति (परमगति) तक पहुँचने हेतु **इस कलियुग में श्रद्धा-विश्वास के साथ श्रीरामचरितमानस का श्रवण-कथन या चिंतन ही सुगम साधन है।**

रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही

अगस्त्य ऋषि के आश्रम में श्रीरामकथा श्रवण करके लौटते हुए शिव-सती ने अखिल ब्रह्माण्डनायक भगवान श्रीराम को सीताहरण के पश्चात् विरह-लीला करते हुए देखा। शिवजी तो अति प्रसन्न हुए अपने इष्ट देव के दर्शन पाकर, पर सतीजी को मोह हो गया, क्योंकि उन्होंने मन से श्रीराम कथा श्रवण नहीं की थी। शिवजी के बहुत समझाने पर भी न मानीं और परीक्षा ली, वह भी सीताजी का रूप धारण करके। इस कारण शिवजी ने उनका त्याग कर दिया।

एहिं तन सतिहि भेट मोहि नाहीं। सिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं॥ (1/57/2)

अपने पिता के घर हो रहे यज्ञ में शिवजी का अपमान देखकर सतीजी ने अपना शरीर त्याग दिया। मरते समय उन्होंने यह वरदान मांगा-

सतीं मरत हरि सन बरु मागा। जनम जनम सिव पद अनुरागा॥ (1/65/5)

इस कारण उन्होंने पार्वती के रूप में राजा हिमाचल के घर अवतार लिया और कठोर तप करके पुनः शिवजी को पति रूप में पा लिया। अब उनके मन में श्रीराम कथा के प्रति रुचि जाग्रत हुई और जिज्ञासावश शिवजी से प्रश्न किया-

प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी॥ (1/110/4)

इसके उत्तर स्वरूप शिवजी ने इस प्रकार समझाया-

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहचानें॥
जेहि जानें जग जाइ हेराई। जागें जथा सपन भ्रम जाई॥
बंदउँ बालरूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥ (1/112/1-3)

सगुण ब्रह्म के अवतार लेने से संबंधित भ्रम हो जाता है। जो भ्रम सतीजी को हुआ था और अभी पार्वतीजी के रूप में भी कुछ भ्रम रहा है। वही भ्रम मुनि भरद्वाज को भी हो गया था। वे याज्ञवल्क्यजी से पूछते हैं-

रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही। कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही॥ (1/46/6)

काकभुशुण्डिजी को भी श्रीरामजी की बाल-लीला देखकर मोह हो गया था। वे सोचते हैं-

प्राकृत सिसु इव लीला देखि भयउ मोहि मोह।
कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद संदोह॥ (7/77ख)

गरुड़जी को भी मोह हो गया था श्रीरामजी को नागपाश में बँधा देखकर और जब वे काकभुशुण्डिजी के पास गए तभी उनका संदेह दूर हुआ। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि सगुण रूप को समझ पाना बहुत मुश्किल है। तभी काकभुशुण्डिजी गरुड़जी से ऐसा कहते हैं-

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥ (7/73ख)

गुरु वसिष्ठजी चारों भाइयों के नामकरण के समय श्रीरामजी के संबंध में स्पष्ट रूप से राजा दशरथ को बताते हैं-

जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥ (1/197/5-6)

महाराज जनक को भी प्रथम दर्शन में ही आभास तो हो गया था कि ये ब्रह्म के अवतार हैं, पर फिर भी संदेह तो रहा ही होगा तभी उन्होंने विश्वामित्रजी से यह प्रश्न किया-

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥ (1/216/1-4)

इस प्रकार भगवान श्रीराम के ब्रह्मावतार होने के संबंध में कई महानुभावों को संदेह हुआ था, क्योंकि भगवान श्रीराम ने अपनी भगवत्ता का परिचय केवल दो बार दिया। श्रीरामजी ने निम्नांकित दो अवसरों पर अपनी भगवत्ता का परिचय दिया, किंतु वह किसी को भी उसका पता नहीं चला।

(1) वनवास काल में श्रीरामजी के चित्रकूट प्रवास के समय भरतजी

अयोध्या समाज के साथ मिलने आते हैं। उस सम्पूर्ण समाज को, जिसे श्रीरामजी तमसा नदी पर सोते हुए छोड़कर अर्द्धरात्रि में रथ की खोज न कर सकें, ऐसी व्यवस्था करके चले गए थे, वे सभी विरही लोग भगवान से मिलने चित्रकूट आए। उस समय श्रीरामजी अपनी भगवत्ता से सभी लोगों से पलभर में मिल लिए। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

आरत लोग राम सबु जाना। करुनाकर सुजान भगवाना।।
जो जेहि भायँ रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी।।
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू। कीन्ह दूरि दुखु दारुन दाहू।।
यह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं।। (2/244/1-4)

(2) वनवास काल सम्पूर्ण हो जाने पर श्रीरामजी पुष्पक विमान से अयोध्यानगरी आते हैं। सभी नगरवासी एक-एक दिन बड़े कष्ट से श्रीरामजी के विरह में बिता रहे थे और इसीलिए सभी की अभिलाषा थी कि श्रीरामजी सबसे पहले उनसे मिलें। इस समय भी श्रीरामजी ने वही किया, जो चित्रकूट में किया था, यथा-

प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी।।
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले सबहि कृपाला।। (7/6/4-5)

तत्पश्चात् वही चरित्र किए जो कि साधारण मनुष्यों को करने चाहिए। इसलिए उन्हें मर्यादापुरुषोत्तम कहा गया है। याज्ञवल्क्यजी ने भरद्वाज के प्रश्न, **'रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही'** के उत्तर में उन्हें सम्पूर्ण श्रीराम कथा श्रवण कराई और श्रीरामकथा श्रवण कर उनका संदेह दूर हो गया।

सच्चा सुख प्राप्ति के सुगम उपाय

हम सभी सुख चैन चाहते हैं। इसी की खोज में यहाँ से वहाँ भटकते रहते हैं, पर हमें हताश ही होना पड़ता है, क्योंकि इसकी खोज हम उन तत्वों में करते हैं जहाँ यह नहीं है। हम सोचते हैं कि अपार सम्पत्ति मिल जाए तो फिर तो सुख ही सुख है, किंतु हम उस सम्पत्ति के अर्जन के तरीके की ओर ध्यान नहीं देते हैं। यदि यह सम्पत्ति दूसरों का हक छीन कर कमाई गई है तो यह कभी भी सच्चा सुख प्रदान नहीं कर सकती है। जिससे दूसरों को कष्ट हो, ऐसी क्रियाओं से हमें सुख नहीं मिल सकता है। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा॥ (7/41/3)

अतः हम दूसरों को कष्ट देकर कितनी ही सम्पत्ति कमा लें, दूसरों का हक छीन कर कितने ही सुख-साधन जुटा लें, हमें उनसे सच्चा सुख नहीं मिलेगा।

प्रायः लोग सोचते हैं कि धार्मिक अनुष्ठान से हमें सुख शान्ति मिलेगी। अवश्य मिलती है, किंतु वह यदि सात्विक हो तो, अन्यथा यदि किसी को कष्ट देने के उद्देश्य से कोई अनुष्ठान किया जाता है तो उससे सच्चा सुख कभी नहीं मिलता। धर्म का रहस्य है-

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥ (7/41/1)

अर्थात् जिस क्रिया से दूसरों का भला हो वही धर्म है तथा जिससे दूसरों को कष्ट हो वही पाप है। इस परिभाषा के अनुसार हमें अपनी प्रत्येक क्रिया का परीक्षण करना चाहिए। यह निश्चित मानिए कि यदि हम सुख चाहते हैं तो वह तभी मिलेगा जब हम दूसरों को सुख देंगे। यह कदापि संभव नहीं है कि हम अपनी क्रियाओं से दूसरों को कष्ट देकर तथा उनका हक छीन कर सुखी रह सकें।

सच्चे सुख की प्राप्ति हेतु सर्वप्रथम हमें अपनी वाणी को संयमित करना होगा, जिससे दूसरों को उत्तेजना न हो, ऐसी मधुर एवं सत्य वाणी बोलने मात्र से ही सच्चा सुख प्राप्त हो जाएगा, यथा-

कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥ (2/130/4)

सच्चे सुख की प्राप्ति का दूसरा उपाय है कि पर स्त्री को माँ के समान समझें। इसी प्रकार स्त्रियाँ पर पुरुषों को भाई/पिता के समान समझें तथा दूसरे के हक को/परधन को विष समान जानें यथा-

जननी सम जानहिं परनारी। धनु पराव विष तें बिष भारी॥ (2/130/6)

श्रीहरि के पावन नाम (जिस नाम-रूप में श्रद्धा हो उसी का) का स्मरण होता रहे। इस कलियुग में यही एकमात्र सबसे सरल उपाय है, यथा-

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥ (1/27/7)

प्रारंभ में अभ्यास न होने से मन इधर-उधर भटकता है तथा पूर्व संचित पाप-कर्मों के कारण भजन में, सत्कर्म में, सत्संग में मन नहीं टिकता है, किंतु धीरे-धीरे अभ्यास से एवं सदाचरण से जैसे-जैसे मन निर्मल होता जाता है, प्रभु नाम में मन रमने लगता है और फिर सच्चा सुख स्वतः आ जाता है, यथा-

जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥
तिमि सुख संपति बिनहि बोलाएँ। धरम सील पहिं जाहिं सुभाएँ॥ (1/294/2-3)

अतः हमारा परम कर्तव्य यही होना चाहिए कि हम अपने आचरण को सुधारें, अपने मन को निर्मल बनाएँ तभी हमें सच्चा सुख मिल सकेगा। हम जैसी भावना बनाएँगे, उसके अनुरूप ही हमें फल की प्राप्ति होगी, यथा-

जिन्ह कें रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥ (1/241/4)

अतः सच्चे सुख की प्राप्ति हेतु हम अपनी भावना शुद्ध रखें। केवल दूसरों के दोष ही न देखें। अपने दोष देखें और उन्हें एक-एक करके काँटे की तरह निकालते जाएँ। जैसे-जैसे अपने दोष काँटे की तरह निकलते जाएँगे, सुख की अभिवृद्धि होती जाएगी, यथा-

दोष न देखो कभी किसी के निन्दा चुगली को दो त्याग।
सद्गुण सद्भावों को देखो सेवा करो सहित अनुराग॥

यदि हम सच्चा सुख चाहते हैं तो अपनी प्रत्येक क्रिया को इस तराजू पर तोलना होगा कि यदि दूसरा मेरे प्रति ऐसा ही व्यवहार करता तो मुझे कैसा लगता, यथा-

समझो तुम जिन-जिन बातों को अपने हित मन के प्रतिकूल।
उन्हें न बरतो कभी किसी से समझो यही धरम का मूल॥

किसी विशेष उपलब्धि प्राप्त होने पर हम अभिमान करने लगते हैं, पर सदैव याद रखें कि अभिमान ऐसे रोग की तरह है जो दिखाई नहीं देता है, पर हमारी अत्यधिक हानि कर सकता है। इसे मानस में कैंसर (डमरुआ) की उपाधि दी गई है, यथा-

अहंकार अति दुखद डमरुआ। दंभ कपट मद मान नेहरुआ॥ (7/121/35)

इससे छुटकारा पाने का सरल उपाय है कि यदि हमें कोई विशेष उपलब्धि प्राप्त होती है तो उसे भगवान की कृपा समझें और यदि कोई त्रुटि हो जाए तो उसे स्वयं का दोष समझें। मानस के अनुसार-

गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥ (2/131/3)

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णित किसी भी साधन को व्यवहार में लाकर हम सच्चे सुख की प्राप्ति कर सकते हैं।

सब तें सेवक धरमु कठोरा

श्रीरामचरितमानस एक ऐसा दिव्य महाकाव्य है, जिसमें मानव जीवन के विभिन्न आयामों के ऐसे आदर्श मिलते हैं, जो अन्यत्र सुलभ नहीं हैं। ज्ञान-भक्ति, वैराग्य, सेवा आदि के आदर्श मानव को महामानव बनाने में सक्षम हैं। सेवाभाव का अतुलनीय आदर्श श्रीभरतजी के चरित्र में मिलता है। जब वे श्रीरामजी को मनाने चित्रकूट जाते हैं, उस समय पैदल ही चल रहे थे। उनके सेवक घोड़े पर बैठने के लिए बार-बार आग्रह कर रहे थे। उस समय उन्होंने अपने उन सेवकों को यह उत्तर दिया-

रामु पयादेहि पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए।।
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा।। (2/203/6-7)

भरतजी स्वयं अपने को ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामजी का सेवक मानते हैं, क्योंकि सूर्यवंश की यही रीति है। यह रीति उन्होंने अपनी माता कैकेई से सीखी है, क्योंकि बच्चे की प्रथम गुरु माँ ही होती है। स्वयं माता कैकेई ने यह सिद्धांत अपनी दासी मंथरा को उस समय बताया था, जब ईश्वरीय प्रेरणा से वह उनको 'राम-राज' के विरुद्ध भड़का रही थी। उन्होंने उसे पहले तो डाँट दिया, पर होनहारवश पुनः समझाते हुए यह कहा-

जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई।।
राम तिलकु जौं साँचेहु काली। देउँ मागु मन भावत आली।। (2/15/3-4)

सेवक का धर्म बड़ा कठोर होता है। स्वामी के सुख में ही उसका सुख निहित है। वह अपना निजी सुख भोग ही नहीं सकता है और यदि वह अपने सुख की चाह रखता है तो वह सच्चा सेवक नहीं हो सकता। श्रीरामचरितमानस में उल्लेख है कि यदि सेवक सुख चाहे, भिखारी सम्मान चाहे, व्यसनी धन चाहे, व्यभिचारी शुभ गति चाहे, लोभी यश चाहे और अभिमानी चार पदार्थ अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चाहे तो इन प्राणियों की चाहत इसी प्रकार से है जैसे कोई आकाश का दोहन करके दूध चाहता हो।

सेवक सुख चह मान भिखारी। ब्यसनी धन सुभ गति बिभिचारी।।
लोभी जसु चह चार गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ए प्रानी।। (3/17/15-16)

सेवक का अपना कोई हित नहीं होता। सेवक का हित इसी में है कि वह सभी प्रकार के सुख और लोभ का त्याग करके स्वामी की सेवा करे। श्रीभरतजी के सेवाभाव से प्रसन्न होकर गुरु वसिष्ठजी चित्रकूट में श्रीरामजी से कहते हैं कि पहले भरतजी की विनती सुनिए और फिर साधुमत, लोकमत, राजनीति तथा वेदानुसार निर्णय कीजिए। इस पर श्रीरामजी इतने विश्वास के साथ गुरुजी से कह देते हैं कि जो भरत कहें वे करने को तैयार हैं। यह स्वामी की सेवक के प्रति अटूट विश्वास की पराकाष्ठा है।

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।
सत्यसंध रघुबर बचन सुनि भा सुखी समाजु।। (2/264)

श्रीरामजी के इस कथन से अयोध्या का समाज सुख का अनुभव करता है। वे सोचते हैं कि अब तो भरतजी कह ही देंगे कि हे रामजी आप अयोध्या वापिस चलिए। इस प्रसंग में भरतजी का उत्तर एक निष्ठावान सेवक के रूप में प्रशंसनीय है। वे मन ही मन इस प्रकार से सोचते हैं-

करि बिचारु मन दीन्हीं ठीका। राम रजायस आपन नीका।।
निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोहु सनेहु कीन्ह नहिं थोरा।। (2/266/7-8)

उपर्युक्त सोच विचार के साथ इस पर भरतजी **'सब तें सेवक धरमु कठोरा'** के सिद्धांतानुसार इस प्रकार कहते हैं।

जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची।।
सेवक हित साहिब सेवकाई। करै सकल सुख लोभ बिहाई।।
स्वारथु नाथ फिरें सबही का। किएँ रजाइ कोटि बिधि नीका।।
यह स्वारथ परमारथ सारू। सकल सुकृत फल सुगति सिंगारू।। (2/268/3-6)

इस प्रकार से भरतजी अपने ही नहीं सम्पूर्ण अयोध्यावासियों के स्वार्थ का त्याग करते हुए यही विनती करते हैं कि जो श्रीरामजी आज्ञा दें उसी में सभी का कल्याण है।

चित्रकूट में जब महाराज जनक श्रीभरतजी से श्रीरामजी के अयोध्या

लौटाने के संदर्भ में विचार विमर्श करते हैं, तब भरतजी स्पष्ट रूप से कह देते हैं कि सेवक का धर्म बहुत कठिन होता है। इससे उसका अपने स्वार्थ से विरोध होता है अर्थात् उसे अपने किसी भी प्रकार के स्वार्थ के लिए स्वामी की इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकरण में अपनी विवशता बताते हुए इस प्रकार से निवेदन करते हैं-

सिसु सेवकु आयसु अनुगामी। जानि मोहि सिख देइअ स्वामी॥
एहिं समाज थल बूझब राउर। मौन मलिन मैं बोलब बाउर॥
छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता। छमब तात लखि बाम बिधाता॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवाधरमु कठिन जगु जाना॥
स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू। बैरु अंध प्रेमहि न प्रबोधू॥ (2/293/4-8)

सेवक का स्वामी के प्रति अटूट विश्वास होना भी **'सेवाधर्म'** का एक अभिन्न अंग है। भरतजी को अपने स्वामी श्रीरामजी पर अटूट विश्वास है। इसका प्रमाण उस समय मिलता है, जब अपने पिता का अंतिम संस्कार करने के पश्चात् भरतजी को राजदरबार में बुलाया जाता है और गुरु वसिष्ठ, सभी मंत्रीगण और यहाँ तक कि माता कौसल्या भी उनको राजपद स्वीकार करने का आग्रह करती हैं, तब भरतजी अपने उद्‌गार इस प्रकार से व्यक्त करते हैं-

गुर बिबेक सागर जगु जाना। जिन्हहि बिस्व कर बदर समाना॥
मो कहँ तिलक साज सज सोऊ। भएँ बिधि बिमुख बिमुख सबु कोऊ॥
परिहरि रामु सीय जग माहीं। कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं॥ (2/182/1-3)

भरतजी बड़े विश्वास के साथ राजदरबार में सभी से कहते हैं कि यद्यपि मैं दोषी हूँ, किंतु मेरे स्वामी श्रीरामजी मुझे क्षमा करके मेरी विनती सुनकर अयोध्या वापिस आ जाएँगे।

जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी॥
सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥
तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥
जेहिं सुनि बिनय मोहि जनु जानी। आवहिं बहुरि रामु रजधानी॥ (2/183/3-8)

इसी विश्वास के साथ भरतजी अपने समाज और माताओं के साथ चित्रकूट के लिए प्रस्थान करते हैं, जहाँ श्रीरामजी वनवास कर रहे थे। जब वे प्रयागराज पहुँचते हैं और तीर्थराज से प्रार्थना करते हैं, उस प्रार्थना में भी उनका श्रीरामजी के प्रति अटूट विश्वास झलकता है। श्रीरामचरितमानस में इसका विवरण इस प्रकार से दिया है-

जानहुँ रामु कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥
सीता राम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें॥ (2/205/1-2)

अपने स्वामी के प्रति यही दृढ़ विश्वास उनकी चित्रकूट के समीप की यात्रा के समय श्रीराम सखा निषादराज के साथ हुए संवाद में मिलता है। वे रास्ते में नाना प्रकार के कुतर्क सोचते हुए चलते हैं।

चले भरतु जहँ सिय रघुराई। साथ निषादनाथु लघु भाई॥
समुझि मातु करतब सकुचाहीं। करत कुतरक कोटि मन माहीं॥
रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ॥ (2/233/6-8)

इन विचारों के बीच जब वे अपने स्वामी श्रीरामजी के क्षमाशील, दयालु स्वभाव का स्मरण करते हैं, तब आगे शीघ्रता से कदम बढ़ाते हैं।

अस मन गुनत चले मग जाता। सकुच सनेहँ सिथिल सब गाता॥
फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥ (2/234/4-6)

सेवक का अपने स्वामी के संबंधियों से भी असीम प्रेम होता है। चित्रकूट यात्रा के समय जब वे शृंगवेरपुर के पास से निकलते हैं और गुरु वसिष्ठजी निषादराज का परिचय रामसखा के रूप में देते हैं, तब भरतजी प्रेम में उमड़ते हुए उनसे मिलने के लिए आतुर हो जाते हैं और उनसे मिलकर उन्हें ऐसा लगा मानो भाई लक्ष्मण से मिल रहे हों।

राम सखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥
गाउँ जाति गुहँ नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महि लाई॥ (2/193/7-8)

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदय समाइ॥ (2/193)

जब सेवक अपना धर्म सत्यनिष्ठा, नि:स्वार्थ भाव एवं पूर्ण समर्पण से निभाता है, तब स्वामी को भी उसके प्रति इतना विश्वास हो जाता है कि किसी भी परिस्थिति में स्वामी यह मानने को तैयार नहीं होता कि उसके सेवक से कोई त्रुटि हो सकती है। संवादहीनता के कारण निषादराज को संदेह हो गया था कि भरतजी श्रीरामजी पर आक्रमण करने जा रहे हैं, किंतु बाद में एक सगुन विचारक वृद्ध के समझाने पर उन्होंने टकराव का रास्ता छोड़ भेद जानने का प्रयास किया और वास्तविकता ज्ञात होने पर वे भी उनके सखा हो गए। इसी प्रकार जब लक्ष्मणजी को समाचार मिला कि भरतजी सेना के साथ आ रहे हैं तो उनको भी निषादराज की तरह संदेह हो गया और वे भरतजी के विरुद्ध बहुत कुछ बोल गए, क्योंकि परिस्थिति को देखकर और भरतजी का स्वभाव स्मरण कर कुछ क्षण के लिए श्रीरामजी को भी क्षोभ हो गया था, पर तुरंत ही समाधान हो गया था। उन्होंने लक्ष्मणजी को समझाते हुए कहा कि भरत को कभी राजमद नहीं हो सकता है, ऐसा उनका अटूट विश्वास है।

सुनहु लखन भल भरत सरीसा। बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥ (2/231/8)

भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥ (2/231)

सेवक को केवल अपने स्वामी के सुख की चिन्ता होती है। दूसरे किसी भी संबंध से उसे उतना लगाव नहीं होता है। चित्रकूट यात्रा के समय मुनि भरद्वाज से संवाद करते हुए भरतजी स्पष्ट रूप से अपने मन की बात बताते हैं कि उन्हें और किसी बात का दुख नहीं है, जो हुआ सो हुआ, पर मेरे भाई, मेरे स्वामी राम नंगे पैर वन-वन विचरण कर रहे हैं, एक यही दुख उनको इतना सता रहा है कि जिससे दिन में भूख नहीं लगती और रात्रि में नींद नहीं आती-

मोहि न मातु करतब कर सोचू। नहिं दुखु जियँ जगु जानिहि पोचू॥
नाहिन डरु बिगरिहि परलोकू। पितहु मरन कर मोहि न सोकू॥
सुकृत सुजस भरि भुअन सुहाए। लछिमन राम सरिस सुत पाए॥
राम बिरहँ तजि तनु छनभंगू। भूप सोच कर कवन प्रसंगू॥

राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं॥ (2/211/4-8)

अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात।
बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात॥ (2/212)

एहि दुख दाहँ दहइ नित छाती। भूख न बासर नीद न राती॥ (2/212/1)

सेवक के कठोर धर्म की एक परीक्षा यह भी है कि वह स्वामी के दोष नहीं देखता। चाहे उसके स्वामी सम्मान करें या तिरस्कार, वह समभाव में रहते हुए हर परिस्थिति में अपने को ही दोषी मानता है और सदा अपने स्वामी के प्रति निष्ठावान रहता है। भरतजी ऐसा ही सोचते हैं। श्रीरामचरितमानस की इन चौपाइयों में उनका यह भाव झलकता है-

जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी। जौं सनमानहिं सेवकु जानी॥
मोरें सरन रामहि की पनहीं। राम सुस्वामि दोसु सब जनहीं॥ (2/234/1-2)

सेवक की स्वामी के प्रति त्याग की भावना सर्वोपरि होती है। चित्रकूट में जिस समय गुरु वसिष्ठ श्रीरामजी के अयोध्या लौटने के विभिन्न पहलुओं पर विचार कर रहे थे, उस समय उन्होंने यह सुझाव भरतजी के सम्मुख रखा कि श्रीरामजी के स्थान पर तुम वन को चले जाओ। भरतजी ने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार करते हुए कहा कि चौदह वर्ष की बात ही क्या वे पूरा जीवन वन में बिता देंगे। इससे अधिक उनका हित और किसी में नहीं हो सकता।

कहहिं भरतु मुनि कहा सो कीन्हे। फलु जग जीवन्ह अभिमत दीन्हे॥
कानन करउँ जनम भरि बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू॥ (2/256/7-8)

भरतजी के सम्पूर्ण समर्पण की पराकाष्ठा उस समय दृष्टिगोचर होती है, जब वे चित्रकूट स्थली में श्रीरामजी के आश्रम में उनके पीछे से दंडवत प्रणाम करते हुए उनके चरणों में गिर पड़ते हैं।

पाहि नाथ कह पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥ (2/240/2)

इस समर्पण को देखकर श्रीरामजी उन्हें गले से लगाने के लिए प्रेम में इतने अधीर हो गए कि उनका कहीं पर पट गिरा, कहीं धनुष-बाण और कहीं निषंग। ऐसा प्रेमभाव श्रीरामजी के चरित्र में अन्यत्र देखने को नहीं मिलता है।

बचन सप्रेम लखन पहिचाने। करत प्रनामु भरत जियँ जाने॥ (2/240/3)

कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरतु प्रनाम करत रघुनाथा।।
उठे रामु सुनि पेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा।। (2/240/7-8)

बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान।। (2/240)

गहन विचार मंथन के पश्चात् जब श्रीरामजी भरतजी को अयोध्या लौटने को कहते हैं और उनको अपनी चरण-पादुकाएँ दे देते हैं, तब अपने स्वामी की ही प्रसन्नता से भरतजी परम प्रसन्न हो अयोध्या लौट आते हैं। श्रीरामजी की खड़ाऊँ पाकर वे इतने प्रसन्न होते हैं मानो स्वयं श्रीरामजी अयोध्या लौट रहे हों।

भरतहि भयउ परम संतोषू। सनमुख स्वामि बिमुख दुख दोषू।। (2/307/3)

प्रभु करि कृपा पाँवरीं दीन्हीं। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं।।
भरत मुदित अवलंब लहे तें। अस सुख जस सिय रामु रहे तें।। (2/316/4 तथा 8)

जब सेवक अपने कठोर धर्म का पालन करते हुए अपने स्वामी के प्रति पूर्ण समर्पण दर्शाता है, तब फिर वह अपने जीवन में निश्चिंत हो जाता है, ठीक उसी तरह जैसे एक अबोध बच्चा अपनी माँ की गोद में निश्चिंत रहता है। उसकी चिंता उसकी माँ को ही होती है। यह बात श्रीहनुमानजी ने श्रीरामजी से अपने प्रथम मिलन में कही है।

सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें।। (4/3/4)

स्वामी-सेवक के संबंध का एक दूसरा पहलू भी, जिसका श्रीरामचरितमानस में उल्लेख है, विचारणीय है। यदि सेवक अपने धर्म का त्याग करके शठता पर उतर आता है, तब वह स्वामी के लिए शूल के समान दुखदाई हो जाता है। सुग्रीव से मित्रता स्थापित करने के पश्चात् श्रीरामजी उन्हें बताते हैं कि सेवक की शठता, राजा की कृपणता, नारी की कृतघ्नता और मित्र की कपटता ये चार शूल के समान दुखदाई होते हैं।

सेवक सठ नृप कृपन कुनारी। कपटी मित्र सूल सम चारी।। (4/7/9)

स्वयं श्रीरामजी अयोध्यावासियों को संबोधित करते हुए कहते हैं कि वही सेवक मेरा प्रियतम है, जो मेरी आज्ञा माने।

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई।। (7/43/5)

इस प्रकार से सेवक का धर्म सबसे कठोर होता है, क्योंकि उसका परम धर्म यही है कि वह अपने स्वार्थ का सर्वथा त्याग करके स्वामी के हित और प्रसन्नता का ध्यान रखते हुए उनकी आज्ञा का पालन करे। सच्चे सेवक की भूमिका निभाने में भरतजी का चरित्र अतुलनीय है। यही कारण है कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने अयोध्याकाण्ड को सम्पूर्ण करते समय लिखा है कि जो नियमपूर्वक भरतजी का चरित्र सादर सुनेंगे, उनको संसार के भोग-विलास से विरक्ति होकर सीतारामजी के चरणों में प्रेम अवश्य ही हो जाएगा।

भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥ (2/326)

इस परिप्रेक्ष्य में विचारणीय है कि आजकल राजनेता अपने को जनता का सेवक बताते हैं, पर क्या वे उपरिलिखित सिद्धांत के अनुसार सच्चे सेवक की श्रेणी में उतर सकते हैं। जहाँ तक राजा और प्रजा का संबंध है स्वयं भगवान श्रीरामजी वन गमन के प्रसंग में भाई लक्ष्मणजी को समझाते हुए कहते हैं कि जिसके राज में प्रिय प्रजा दुखी हो वह राजा नरक में जाता है।

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥ (2/71/6)

इस प्रसंग से राजनेताओं को यह शिक्षा लेनी चाहिए कि यदि सच्चे अर्थ में वे जनता के सेवक बनना चाहें तो अपना निजी स्वार्थ त्यागकर जनता के कल्याणार्थ कार्य करें। यदि वे ऐसा करते हैं तो उनका भी परम कल्याण होगा, क्योंकि जिनके मन में परमार्थ की भावना हो उनको संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥ (3/31/9)

यदि अध्यात्म पक्ष से सेवक-स्वामी संबंध पर विचार किया जाए तो श्री काकभुशुण्डिजी का सिद्धांत उल्लेखनीय है। गरुड़जी को भक्ति का महत्त्व समझाते हुए वे कहते हैं-

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥ (7/119क)

संतान्वेषण-परिणाम

सच्चे संत की पहचान करना बहुत कठिन है। कभी-कभी ऊपर से दयालु और परहितशाली भी अंदर से मयूर की तरह होते हैं। असंतों का लक्षण समझाते हुए श्रीरामजी उपवन में भरतजी से कहते हैं कि इनका स्वभाव मोर की तरह होता है। जैसे मोर की वाणी अत्यंत मधुर होती है, पर उसका भोजन है जहरीला साँप। इसी प्रकार ऐसे लोग ऊपर से वाणी द्वारा मधुररस घोल देते हैं, पर अंदर जहररूपी द्वेष भरा रहता है। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाइ महा अहि हृदय कठोरा॥ (7/39/9)

संत के लक्षण समझाते हुए श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं-हे गरुड़जी! दूसरों को सुख प्रदान करने हेतु संत स्वयं कष्ट सहते हैं और अभागी असंतजन दूसरों को कष्ट देने के लिए स्वयं दुख सहते हैं, यथा-

संत सहहिं दुख पर हित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी॥ (7/121/15)

कभी-कभी कोई व्यक्ति निजी स्वार्थवश संत की तरह कष्ट सहकर भी परहित करता है और कभी-कभी 'मरघट वैराग्य' की तरह परोपकार की भावना जाग्रत हो जाती है, पर अंततः ऐसे व्यक्ति संत-आचरण नहीं कर पाते हैं। इस संदर्भ में हमारे मामाजी, पं0 वृजगोपाल पाठक, नौगाँव (बुंदेलखण्ड), मध्य प्रदेश के सुनाए हुए तीन संस्मरण उल्लेखनीय हैं-

1. नौगाँव (बुंदेलखण्ड) में प्रति वर्ष मई मास में 'मानस यज्ञ' होता है, जिसमें प्रख्यात मानस मर्मज्ञ आमंत्रित किए जाते हैं। सन् 1970 के आसपास की घटना है कि जब 'मानस मंच' से एक कथा व्यास ने सभी को 'भरत' चरित्र सुनाकर गद्गद कर दिया। मामाजी एक सच्चे संत की खोज में थे। उन्होंने सोचा यही सच्चे संत हैं। 'मानस' में इतना रस इनको आ रहा है और विशेष कर उस प्रसंग में जब भरतजी चित्रकूट की ओर अग्रसर होते हैं और उनके प्रेम को देखकर देवराज इन्द्र घबरा कर बृहस्पतिजी की शरण में जाकर निवेदन करते हैं कि ऐसा कुछ करें कि

जिससे भरतजी का श्रीरामजी से मिलन न हो। बृहस्पतिजी उनको इस प्रकार समझाते हैं-

राम भगत परहित निरत पर दुख दुखी दयाल।
भगत सिरोमनि भरत तें जनि डरपहु सुरपाल॥ (2/219)

राम भक्त (भगवत भक्त) तो संत होते ही हैं। वे दूसरों के दुख से दुखी हो जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने संतों के लक्षणों में यह लिखा है-

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह पर कहै न जाना।
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुःख द्रवहिं संत सुपुनीता॥ (7/125/7-8)

श्रीरामचरितमानस में संतों के लक्षण विभिन्न प्रसंगों में नाना भाँति वर्णित हैं। मामाजी उपर्युक्त एक लक्षण तथा निम्नांकित दूसरे लक्षण की दृष्टि से संत की खोज कर रहे थे।

छमासील जे पर उपकारी। ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी॥ (7/109/5)

इन दोनों लक्षणों के परिप्रेक्ष्य में संत की खोज करते हुए उन्हें उपर्युक्त कथा वाचक सच्चे संत के रूप में दृष्टिगोचर हुए, अतः वे दूसरे दिन उनके प्रवास पर दर्शनार्थ गए, पर वहाँ का दृश्य देखकर चुपचाप लौट आए तथा विचार किया कि ये संत नहीं हो सकते। वह दृश्य इस प्रकार का था-

कथा आयोजकों ने उन्हें एक दिन के लिए एक हजार रुपये दक्षिणा के हिसाब से आमंत्रित किया था, किंतु उनके मुखारविन्द से कथा श्रवण कर श्रोताओं ने दूसरे दिन भी कथा करने के लिए अनुरोध किया और आयोजकों ने तदनुसार व्यवस्था कर ली। विदाई के समय आयोजक निवेदन कर रहे थे कि हम एक ही दिन की दक्षिणा का प्रबंध कर सके हैं, पर, एक हजार पाँच सौ रुपए स्वीकार कर लें और दूसरे दिन भी कथारस पान कराएँ, तो आपकी अति कृपा होगी, किंतु प्रवचनकर्ता दो हजार रुपयों की बात करके काफी विवाद कर रहे थे, मान ही नहीं रहे थे। उल्लेखनीय है कि उस समय एक आई.ए.एस. अधिकारी का प्रारंभिक मूल वेतन 450 रुपए प्रति माह था।

इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि कथावाचक ने भरतजी का प्रसंग सुनाते हुए इस तथ्य पर बहुत चर्चा की थी कि जो श्रीरामजी के अनुरागी होते

हैं वे लक्ष्मी/भोग विलास को इस तरह त्याग देते हैं जैसे कोई वमन (उल्टी) को अपवित्र समझकर त्याग देता है, यथा-

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥ (2/324/8)

वे कथावाचक इतने आदर्श की बातें करते थे और पाँच सौ रुपये कम मिलने पर दूसरे दिन कथा करने से मुकर गए और एक दिन की दक्षिणा एक हजार रुपये लेकर चलते बने। ऐसे कथा वाचकों का समाज पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है, क्योंकि जो केवल उपदेश देता है उस पर आचरण नहीं करता, उसका किसी पर कोई प्रभाव पड़ने वाला नहीं है। 'मानस' के अनुसार-

पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥ (6/78/2)

इस प्रकार मामाजी ने यह निश्चय कर लिया कि ये कथावाचक संत नहीं हो सकते।

2. सच्चे संत की खोज में एक बार नौगाँव में ही शारदीय नवरात्रि में रामलीला के दौरान मामाजी ने एक सज्जन को भाव विभोर होकर अश्रुपात करते देखा। दृश्य यह था कि लक्ष्मणजी को शक्ति लगने पर श्रीरामजी विलाप कर रहे हैं। उन्होंने समझा कि ये सच्चे संत हो सकते हैं। उनसे अवश्य मिलूँगा। उन्होंने उनका पता ले लिया और कुछ अंतराल के बाद उनके गाँव में गए तथा उनके बारे में जानकारी ली। बताया गया कि वे श्रीमानजी जेल में हैं, क्योंकि पारिवारिक झगड़े में उन्होंने अपने सगे भाई पर गोली चला दी थी। उनका भाई तो बच गया, पर हत्या के प्रयास में वे श्रीमानजी जेल चले गए। वे वहाँ से भी निराश हुए कि ये भी सच्चे संत नहीं हो सकते। इस दृष्टांत को सुनकर मेरे मन में यह विचार आया कि जो इतना अच्छा भावुक प्रवचन करते हों अथवा जिनके मन में श्रीराम लीला के दृश्य को देखकर इतना प्रेम जाग्रत हो, वे फिर इस प्रकार के प्रपंचों में कैसे पड़ सकते हैं, तभी कपिराज सुग्रीव का प्रसंग याद आ गया। श्रीरामजी ने जब सात ताड़ के पेड़ ढहा दिए तब सुग्रीव को विश्वास हो गया कि वे साक्षात् नारायण के अवतार हैं और वे श्रीरामजी से विनय करते हैं-

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥ (4/7/21)

वही सुग्रीव बालि-वध के बाद राजपाट प्राप्त करके माया में सब कुछ भूल जाता है, तब श्रीरामजी कहते हैं-

सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी॥
जेहिं सायक मारा मैं बाली। तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ बाली॥ (4/18/4-5)

मैंने विचार किया कि जब भगवान का दर्शन करने के पश्चात् भी सुग्रीव जैसे भक्त मायाग्रस्त हो सकते हैं, तब हम कलियुगी जीव किस गिनती में हैं।

मामाजी ने अपना संतान्वेषण जारी रखा कि कोई न कोई तो मिलेगा जो उपर्युक्त दो लक्षणों पर सच्चे संत की श्रेणी में खरा उतरेगा।

3. यह घटना लगभग सन् 1975 की है तब मामाजी की उम्र 50 वर्ष की थी। उस समय वे पान खाते थे। वे नौगाँव से सतना (मध्य प्रदेश) बस से जा रहे थे। किनारे की सीट पर बैठे थे, पर पान की पीक बाहर जाने की बजाय उनके पीछे बैठे एक सज्जन के ऊपर पड़ी और उनके सारे श्वेत वस्त्र खराब हो गए। उन्होंने उनसे क्षमा माँगी। उन्होंने कुछ नहीं कहा। वे शान्त रहे। वे पन्ना स्टेशन पर उतरे। मामाजी ने उतरकर उनसे पुनः क्षमा याचना की फिर भी वे कुछ नहीं बोले और मुस्कुरा कर चले गए। मामाजी सतना पहुँचे। प्रवास स्थान पर उन्हें रात में नींद नहीं आ रही थी उस घटना को सोच-सोचकर। उन्हें बहुत आत्मग्लानि हुई। उन्होंने मन ही मन संकल्प किया कि आज के बाद जीवन में कभी पान नहीं खाऊँगा और तब से जीवन में (अगले 30 वर्ष) उन्होंने कभी भी पान नहीं खाया। इस प्रकार से मामाजी का मत यह है कि जिसके सम्पर्क से सद्विचार आएँ और बुरी आदतें छूट जाएँ वही सच्चा संत है। संत को पहचानना बहुत कठिन है। सादे वेश में 'गृहस्थ जीवन' में संत मिल सकते हैं और संत कहे जाने वाले साधु विपरीत आचरण वाले हो सकते हैं, विशेषकर कलियुग में।

सदाचरण से ही संत बनते हैं, अतः हमें आचरण परख करके ही संत-असंत का भेद समझना चाहिए।

हरि अनंत हरि कथा अनंता

भगवान शिव पार्वतीजी को श्रीराम कथा सुनाते हुए जब रामावतार के प्रसंग में नारद-मोह की कथा सुनाते हैं, तब उसी प्रसंग में गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं-

एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार।

सुर रंजन सज्जन सुखद हरि भंजन भुबि भार॥ (1/139)

शिवजी कहते हैं कि हे पार्वती! भगवान श्रीराम अखिल ब्रह्माण्डनायक हैं और वे अपने भक्तों के लिए हर कल्प में अवतार लेते हैं। उनके सुंदर पावन चरित्र को मुनि लोग गाते हैं। बुद्धिमान लोग उसे सुनकर आश्चर्य नहीं करते हैं, क्योंकि जिस प्रकार ईश्वर अनंत हैं उनकी कथा भी अनंत है-

हरि अनंत हरि कथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहुबिधि सब संता॥
रामचंद्र के चरित सुहाए। कलप कोटि लगि जाहिं न गाए॥ (1/140/5-6)

श्रीरामजी के पावन चरित्रों को करोड़ों कल्प तक भी गाएँ तब भी उनका अंत नहीं हो पाएगा, क्योंकि वे अनंत हैं। कल्प के संदर्भ में विष्णु पुराण में निम्नांकित विवरण मिलते हैं।

एक कल्प ब्रह्मा के एक दिन-रात के बराबर होता है जिसमें 28 मनवन्तर अर्थात् दो हजार महायुग होते हैं। एक महायुग में चार युग नामशः सतयुग (17,28,000 सौर वर्ष), त्रेता (12,46,000 सौर वर्ष), द्वापर (8,64,000 सौर वर्ष) तथा कलियुग (4,32,000 सौर वर्ष) होते हैं। सृष्टि की आयु ब्रह्मा के एक दिन (अहो-रात्रि) के बराबर होती है। उल्लेखनीय है कि ब्रह्मा के एक दिन में 14 मनवन्तर होते हैं पर दिन-रात मिलाकर 28 मनवन्तर बनते हैं और यही एक कल्प का समय है। कुछ लोग पृथ्वी की आयु केवल 14 मनवन्तर मानते हैं। यह शास्त्र सम्मत नहीं है। वर्तमान सृष्टि का पहला परार्ध बीत चुका है और दूसरे परार्ध का यह अट्ठाईसवाँ कलियुग है, जिसके सन् 2025 में 5127 वर्ष बीत चुके हैं। इस गणना के अनुसार वर्तमान सृष्टि की

आयु 2.16 अरब सौर वर्ष है, जो कि वैज्ञानिक अनुसंधानों से भी मेल खाती है। ब्रह्मा की आयु 100 वर्ष की होती है। उसके बाद दूसरे ब्रह्मा को प्रभार सौंपा जाता है। एक-एक ब्रह्माण्ड के लिए सृजन, पालन एवं संहार हेतु एक-एक ब्रह्मा, विष्णु और महेश अखिल ब्रह्माण्डनायक श्रीरामजी के अंश से प्रकट होते हैं। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥ (1/144/6)

इसी प्रकार आदि शक्ति सीताजी के अंश से अगणित उमा, रमा और ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं-

बाम भाग सोभति अनुकूला। आदिशक्ति छबिनिधि जगमूला॥
जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ (1/148/2-3)

चूँकि हरि अनंत हैं, हरि कथा अनंत है, अतः उस कथा को हजार-लाख नहीं, बल्कि सौ करोड़ रामायणों में वर्णित किया गया, फिर भी उसका अंत नहीं पा सके। गोस्वामी तुलसीदासजी लिखते हैं-

राम कथा कै मिति जग नाहीं। असि प्रतीति तिन्ह के मन माहीं॥
नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सत कोटि अपारा॥
कलपभेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥
करिअ न संसय अस उर आनी। सुनिअ कथा सादर रति मानी॥ (1/33/5-8)

राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिन्ह कें बिमल बिचार॥ (1/33)

वर्तमान वैज्ञानिक युग में अंतरिक्ष विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि हमारी पृथ्वी जैसी अनेक पृथ्वी तथा अनेक सूर्य एवं सौर मण्डल अंतरिक्ष में हैं। कुछ ग्रह ऐसे भी हैं जिनकी दूरी हमारी पृथ्वी से 100 प्रकाश वर्ष से भी अधिक है। यही तथ्य श्रीरामचरितमानस में उल्लिखित है। देखिए यह प्रसंग जब श्रीरामजी माँ कौसल्या को अपने मुख में ब्रह्माण्ड का दर्शन कराते हैं-

देखरावा मातहिं निज अद्‌भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥ (1/201)

अगनित रबि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन॥ (1/202/1)

काकभुशुण्डिजी को श्रीराम कथा गरुड़जी सुनाते समय अपने बारे में उनके विशेष आग्रह पर उन्हें बताते हैं कि जब-जब श्रीराम अयोध्या में अवतार लेते हैं, मैं उनके दर्शन के लिए जाता हूँ और वहाँ पाँच वर्षों तक रहकर प्रभु के बाल चरित देखकर आनन्दित होता हूँ। एक बार मेरे मन में संदेह हो गया कि क्या वास्तव में यही अखिल ब्रह्माण्डनायक हैं और हैं तो फिर इस प्रकार की लीला क्यों कर रहे हैं। इतना मेरे मन में आया कि मुझे ईश्वर की माया ने ग्रस लिया। तब बाल राम ने मुझे पकड़ने को हाथ बढ़ाया तो मैं उड़ चला और उड़ते-उड़ते ब्रह्मलोक तक गया, पर मुझमें और श्रीराम के हाथ में केवल दो अंगुल का अन्तर रहा। जहाँ तक मेरी गति थी मैं उड़ता रहा, पर मेरे और श्रीराम के हाथ का अन्तर वही रहा। इससे मैं व्याकुल हो गया और जब नेत्र मूँद लिए तब स्वयं को अयोध्यापुरी में पाया। मुझे देखकर श्रीरामजी मुस्कराने लगे और उनके हँसते ही मैं उनके मुख में चला गया। उनके पेट में मैंने यह दृश्य देखा-

उदर माझ सुनु अंडज राया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका॥
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उडगन रबि रजनीसा॥
अगनित लोकपाल जम काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला॥ (7/80/3-6)

सम्पूर्ण राम कथा सुनाने के पश्चात् शिवजी कहते हैं कि समुद्र की बूँदों को गिना जा सकता है और पृथ्वी की मिट्टी/धूल के कणों को भी गिना जा सकता है, किंतु श्रीरामचन्द्र भगवान के गुणों, उनकी लीला और उनके चरित्र का वर्णन नहीं किया जा सकता है।

जल सीकर महि रज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरनि सिराहीं॥ (7/52/4)

इसी कारण कथा प्रारंभ में ही राम जन्म के कारण की कथा सुनाते हुए शिवजी कहते हैं-

हरि अनंत हरि कथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहुबिधि सब संता॥ (1/140/5)

हनुमानजी द्वारा सीतान्वेषण

सीताजी के अन्वेषणार्थ वानर दल की चार टुकड़ियाँ बना दी गई थीं। सबसे पीछे हनुमानजी ने श्रीरामजी को प्रणाम किया। उस समय श्रीरामजी ने उनको मुद्रिका दी, क्योंकि उन्होंने समझा कि काम तो इन्हीं को करना है। उन्होंने श्रीहनुमानजी को मुद्रिका देते हुए कहा कि तुम सीताजी को मेरा विरह और बल बताकर शीघ्र आ जाना–

पाछें पवन तनय सिरु नावा। जानि काज प्रभु निकट बोलावा।।
परसा सीस सरोरुह पानी। करमुद्रिका दीन्हि जन जानी।।
बहु प्रकार सीतहि सुमझाएहु। कहि बल बिरह बेगि तुम्ह आएहु।। (4/23/9–11)

अब हनुमानजी अपनी टुकड़ी के साथ में दक्षिण दिशा की ओर जाते हैं। इसका नेतृत्व तो जाम्बवान्‌जी के मार्गदर्शन में अंगद कर रहे थे। एक बार मार्ग के सघन वन में सबको बहुत प्यास लगी। तब हनुमानजी ने एक शिखर के ऊपर चढ़कर देखा कि एक गुफा में से कुछ पक्षी निकल रहे हैं। उन्होंने विचार किया कि वहाँ जल अवश्य होगा। वे सबको उस गुफा में ले जाते हैं। वहाँ प्रवेश करने के लिए सभी भयभीत थे, पर श्रीहनुमानजी को आगे करके सभी ने प्रवेश किया–

आगें कै हनुमंतहि लीन्हा। पैठे बिबर बिलंबु न कीन्हा।। (4/24/8)

वहाँ पर एक तपस्विनी तपस्या कर रही थीं। उनकी आज्ञा से सबने जलपान किया, मधुर फल खाए और तपस्विनी के अनुसार सबने अपने नयन मूँद लिए और जब नेत्र खोले तो वे समुद्र के किनारे पहुँच गए। वहाँ पर सम्पाती ने देखा कि बहुत से बंदर हैं, आज तो एक साथ भोजन मिल गया। इस वचन को सुनकर अंगदजी कहते हैं–**'धन्य जटायू सम कोउ नाहीं।'** (4/27/7)। जटायु की बात सुनकर सम्पाती ने अपनी पूरी कथा बताई और कहा कि तुम सीताजी को निश्चित रूप से खोज लोगे, किंतु जो इस सौ योजन सागर को लाँघ कर जाएगा, वही सीताजी तक पहुँच सकता है। मैं देख रहा हूँ कि सीताजी लंका में अशोक वृक्ष के नीचे चिंतामग्न बैठी हुई हैं। तब वानरों

ने अपना-अपना बल बताया, पर कोई भी समुद्र पार जाने में समर्थ नहीं हुआ। हनुमानजी हमेशा राम नाम में मग्न रहते हैं। उन्हें कोई सुध नहीं रहती है, कोई उन्हें सुधि दिलाए तो आती है। तब जाम्बवान्‌जी उन्हें रामकाज का स्मरण कराते हैं। तत्पश्चात् श्रीहनुमानजी समुद्र पार कर लंका में जाते हैं और घर-घर सीताजी की खोज करते हें-**'मंदिर मंदिर प्रति कर सोधा'** (5/5/5), लेकिन वहाँ सीताजी नहीं दिखाई दीं। फिर वे रावण के महल में ढूँढ़ते हैं, वहाँ भी सीताजी नहीं मिलती हैं। वे सोचते हैं अब क्या किया जाए? उसी समय उनको राम नाम अंकित एक भवन दिखाई दिया और वे विचार करते हैं-

लंका निसिचर निकर निवासा। इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा॥
मन महुँ तरक करैं कपि लागा। तेहीं समय बिभीषनु जागा॥
राम राम तेहिं सुमिरन कीन्हा। हृदयँ हरष कपि सज्जन चीन्हा॥
एहि सन हठि करिहउँ पहिचानी। साधु ते होइ न कारज हानी॥ (5/6/1-4)

सीताजी भक्तिस्वरूपा हैं और भक्ति बिना किसी संत की कृपा से प्राप्त नहीं होती। स्वयं लक्ष्मणजी को ज्ञान-वैराग्य-भक्ति का वर्णन करते हुए श्रीरामजी कहते हैं-

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइ अनुकूला॥ (3/16/4)

श्रीहनुमानजी विचार करते हैं कि जो प्रातःकाल जागरण के तुरंत पश्चात् 'राम-राम' का स्मरण कर रहे हैं, वह अवश्य ही कोई संत होंगे। उनसे अवश्य मिलूँगा। संत की कृपा से मुझे भक्तिस्वरूपा सीताजी अवश्य मिल जाएँगी। ऐसा विचार कर ही रहे थे कि जो राम-राम स्मरण कर रहे थे (विभीषणजी) स्वयं बाहर आए। दोनों का आपस में परिचय हुआ और फिर विभीषणजी ने सीताजी का पता बताया-

पुनि सब कथा बिभीषन कही। जेहि बिधि जनकसुता तहँ रही॥ (5/8/3)
जुगुति बिभीषन सकल सुनाई। चलेउ पवनसुत बिदा कराई॥ (5/8/5)

तब हनुमानजी अशोक वाटिका में जाते हैं। ठीक उसी समय रावण अपनी पत्नी मंदोदरी के साथ आता है और सीताजी को कहता है कि यदि एक माह में मेरी बात नहीं मानी तो इसी तलवार से तुम्हारा सिर काट दूँगा। सभी निशिचरियों से कहता है कि किसी तरह सीता को वश में करो। रावण का आदेश पाकर निशिचरियाँ विविधि प्रकार से सीताजी को ताड़ना देती हैं।

त्रिजटा नाम की एक राक्षसी सात्विक प्रवृत्ति की थी। वे विभीषणजी की बेटी थीं। उन्होंने सभी निशिचरियों को अपना एक स्वप्न सुनाया-

सपनें बानर लंका जारी। जातुधान सेना सब मारी॥
खर आखढ़ नगन दससीसा। मुंडित सिर खंडित भुज बीसा॥
एहि बिधि सो दच्छिन दिसि जाई। लंका मनहुँ बिभीषन पाई॥
नगर फिरी रघुबीर दोहाई। तब प्रभु सीता बोलि पठाई॥
यह सपना मैं कहउँ पुकारी। होइहि सत्य गएँ दिन चारी॥ (5/11/3-7)

यह स्वप्न सुनकर सभी निशिचरियाँ सीताजी के चरणों में प्रणाम करके क्षमायाचना कर अपने-अपने घर चली गईं। ऊपर वृक्ष पर लघुरूप में विराजे हनुमानजी विचार करते हैं कि क्या मुझे लंका-दहन भी करना है, प्रभु ने तो नहीं कहा था, पर जैसी प्रभु कृपा से संयोग बनेगा, किया जाएगा। अब त्रिजटा से सीताजी कहती हैं कि माता मुझे आग लाकर दे दो। इस शरीर को जला दूँ, विरह व्यथा और रावण की त्रास अब नहीं सही जा रही है। त्रिजटा सीताजी को समझाकर अपने घर चली जाती हैं। अब सूनापन पाकर हनुमानजी ने वह अँगूठी, जो रामजी ने दी थी, नीचे डाल दी। सीताजी अँगूठी को देखकर विचार करती हैं कि यह नकली हो नहीं सकती और अजेय रघुवीरजी को कोई जीत नहीं सकता, फिर यह यहाँ कैसे आई। उसी समय हनुमानजी श्रीराम कथा सुनाने लगे, जिसे सुनकर सीताजी का दुख दूर हो गया और वे बोलीं कि जिसने यह कथा सुनाई है, वह मेरे सामने आए और तब श्रीहनुमानजी नीचे उतरते हैं। पहले तो सीताजी संदेह करती हैं, पर-

कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिस्वास।
जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास॥ (5/13)

वार्तालाप होते हुए सीताजी श्रीरामजी का स्मरण करके प्रेम-मग्न हो जाती हैं, तब हनुमानजी कहते हैं कि माता आप धैर्य धारण करें। रामजी का प्रेम आपसे दूना है। अब मैं आपके विरह में उनकी दशा का वर्णन करता हूँ, ऐसा कहकर हनुमानजी गद्‌गद वाणी से बोलते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि हनुमानजी के मुख से स्वयं श्रीरामजी यह कह रहे हैं-

कहेउ राम बियोग तव सीता। मो कहुँ सकल भए बिपरीता॥ (5/15/1)
तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥ (5/15/6)

हनुमानजी सीताजी को धैर्य धारण कराते हुए कहते हैं कि माता कुछ समय बाद ही रामजी वानर सेना के साथ आकर रावण एवं सभी राक्षसों का संहार करके, आपको ले जाएँगे। संदेहपूर्ण मुद्रा में सीताजी कहती हैं कि सभी वानर तुम्हारे जैसे हैं क्या? तब हनुमानजी अपना असली रूप इस प्रकार दिखाते हैं-

कनक भूधराकार सरीरा। समर भयंकर अतिबल बीरा॥
सीता मन भरोस तब भयऊ। पुनि लघु रूप पवन सुत लयऊ॥ (5/16/8-9)

इसके बाद सीताजी 'अजर-अमर और रामप्रिय' होने का आशीर्वाद देती हैं, जिसे सुनकर हनुमानजी कहते हैं कि माता मैं आपके आशीर्वाद से कृतकृत्य हो गया। अब हनुमानजी विचार करते हैं कि त्रिजटा के स्वप्न के अनुसार लंका जलानी है और रावण को अपना बल दिखाना है। इसलिए वे कहते हैं-

सुनहु मातु मोहि अतिसय भूखा। लागि देखि सुंदर फल रूखा॥ (5/17/7)

सीताजी से आज्ञा पाकर वे अशोक वाटिका में फल खाने के साथ-साथ तोड़-फोड़ करते हैं। रखवाले मना करते तथा उन पर हमला करते हैं, तो वे उन्हें मार देते हैं, कुछ अधमरे रक्षक रावण को समाचार देते हैं, तो रावण अक्षयकुमार को भेजता है, जिसका हनुमानजी संहार कर देते हैं। तब मेघनाद आता है, जो हनुमानजी के साथ युद्ध करते हुए विचार करता है कि अब यह मुझे मार देगा, तब वह ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करता है, जिसका सम्मान करते हुए वे बँध जाते हैं। उन्हें रावण के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। वे रावण को समझाते हैं जिसका उल्टा प्रभाव पड़ता है और वह हनुमानजी को मारने का आदेश देता है। ठीक उसी समय विभीषणजी आ जाते हैं, जिनकी सलाह पर रावण हनुमानजी की पूँछ में आग लगाने का आदेश देता है और श्रीहनुमानजी सम्पूर्ण लंका को जलाने के पश्चात् पुनः सीताजी के समक्ष उपस्थित होते हैं-

पूँछ बुझाइ खोइ श्रम धरि लघु रूप बहोरि।
जनकसुता के आगें ठाढ़ भयउ कर जोरि॥ (5/26)

सीताजी को धैर्य धारण कराके तुरंत समुद्र पार करके वानर दल से, जो उनकी प्रतीक्षा कर रहा था, मिले और श्रीरामजी की ओर चल दिए। समाचार मार्ग में ही सुनाए-

चले हरषि रघुनायक पासा। पूँछत कहत नवल इतिहासा॥ (5/28/6)

वानर दल सुग्रीवजी के साथ श्रीरामजी के पास जाता है और श्रीजाम्बवान् हनुमानजी की प्रशंसा करते हुए समाचार देते हैं। इस प्रकार से हनुमानजी ने श्रीरामजी की आज्ञानुसार सभी कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न करते हुए सीतान्वेषण का कार्य पूर्ण किया। श्रीरामजी प्रसन्न होकर हनुमानजी से कहते हैं-

सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं।। (5/32/7)

अपनी प्रशंसा सुनकर हनुमानजी 'त्राहि-त्राहि' कहते हुए रामजी के चरणों में गिर पड़ते हैं। रामजी उन्हें उठाकर हृदय से लगाकर अपने समीप बैठा लेते हैं। पूछते हैं कि यह दुष्कर कार्य तुमने कैसे किया। निरभिमानता के साथ वे कहते हैं-

ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं जा पर तुम्ह अनुकूल।
तव प्रभावँ बड़बानलहि जारि सकइ खलु तूल।। (5/33)

इसके साथ ही हनुमानजी प्रभु से अत्यंत सुख देने वाली अनपायनी (स्थाई) भक्ति माँगते हैं-

नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी।। (5/34/1)

श्रीरामजी हनुमानजी की 'परम सरल' वाणी को सुनकर कहते हैं-

सुनि प्रभु परम सरल कपि बानी। एवमस्तु तब कहेउ भवानी।। (5/34/2)

इस प्रसंग में 2 सिद्धांत अनुकरणीय हैं-(1) अपनी प्रशंसा सुनकर हनुमानजी 'त्राहि-त्राहि' कहकर प्रभु के चरणों में गिर पड़ते हैं, मानो वे सोचते हैं कि अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न हुए नारदजी को बंदर बनना पड़ा था, मैं तो पहले से बंदर ही हूँ, अब जाने प्रभु क्या बनाएँगे। (2) प्रभु श्रीराम हनुमानजी की 'परम सरल' वाणी को सुनकर उन्हें अनपायनी भक्ति प्रदान करते हैं। यदि हम 'परम सरल' बन जाएँ तो हमें भी अनपायनी भक्ति प्राप्त हो सकती है। नवधा भक्ति में नवम भक्ति भी 'सरल' हो जाने में है, यथा-

नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरश न दीना।। (3/36/5)

इसी कारण गोस्वामीजी लिखते हैं कि यह संवाद जिसके हृदय में आ जाएगा अर्थात् जिसने इस संवाद के अनुसार अपने आचरण में सुधार कर लिया, तो उसे भगवत्भक्ति प्राप्त हो जाएगी। मानस के अनुसार-

यह संबाद जासु उर आवा। रघुपति चरन भगति सोइ पावा।। (5/34/4)

हरिजन इव परिहरि सब आसा

बालि-वध एवं सुग्रीव के राजतिलक के पश्चात् वर्षा ऋतु के आगमन से श्रीराम-लक्ष्मण 'प्रवर्षण गिरि' पर रहे। गोस्वामी तुलसीदास ने श्रीरामचरितमानस में वर्षा ऋतु का वर्णन करते हुए आध्यात्मिक उपमाएँ दी हैं और वर्षा ऋतु के पश्चात् शरद ऋतु का भी मार्मिक वर्णन किया है। इसी में निम्नांकित चौपाई है-

बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा।। (4/16/9)

जिस प्रकार बिना बादलों के निर्मल आकाश शोभित होता है, उसी प्रकार भगवान का जन (भक्त) भी निर्मल मन प्राप्त करके मायामोह से तटस्थ हो शोभा को प्राप्त होता है अर्थात् सर्वदा आनन्दमय रहता है, अतः मानव का परम लक्ष्य होना चाहिए ईश्वर का 'जन' बन जाना। हम सभी सुखी रहना चाहते हैं, पर दुख तो आएँगे ही फिर कैसे सुखी रह सकते हैं। इसका एकमात्र उपाय है हरि का 'जन' बन जाना। इसके लिए स्वयं भगवान श्रीराम ने अयोध्यावासियों को समझाते हुए इस प्रकार कहा है-

बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई।।
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा।। (7/46/4-5)

इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि 'हरिजन' बनने के लिए किसी से वैर भाव न रखें, लड़ाई-झगड़ा न करें और किसी से कोई आशा न करें। पर यह कर पाना आसान नहीं है। इसके लिए सतत् भगवन्नाम स्मरण का अभ्यास, सत्संग और ईश्वर की कृपा की आवश्यकता है। हमारे वश में केवल अपना कर्तव्य मात्र है, जिसे करने के लिए हम स्वतंत्र हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में भी यही उपदेश है-

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।। (2/47)

अर्थात् भगवान कहते हैं कि तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके

फलों में कभी नहीं। इसलिए तू कर्मों के फल का हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो। कर्तव्य कर्म के साथ ही भगवत्शरणागति आवश्यक है। अर्जुन को सम्पूर्ण गीता सुनाने के पश्चात् भगवान श्रीकृष्ण ने कहा-

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (18/66)

अर्थात् भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण धर्मों को अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के आश्रय को मुझमें त्याग कर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान सर्वाधार परमेश्वर की ही शरण में आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

'हरिजन' बनने के लिए हमें अपने रहन-सहन, भोजन, संग आदि को सुधारने के साथ-साथ भगवन्नाम स्मरण करना होगा। भोजन के संदर्भ में सुप्रसिद्ध कहावत है, **'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन'** श्रीरामचरितमानस में भी इसका संकेत है। महाराज मनु और शतरूपा जब तप करने नैमिषारण्य जाते हैं, तब उन्होंने कुछ समय तक फलाहार करते हुए ब्रह्म सत्-चित्त-आनंद का स्मरण किया-

करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा॥ (1/144/1)

श्रीमद्भगवद्गीता में भी लिखा है कि सात्विक आहार ग्रहण करने पर सात्विक बुद्धि प्राप्त होती है अर्थात् सात्विक भोजन करने पर बुद्धि 'हरिजन' बनने में सहायक है। सात्विक भोजन का विवरण इस प्रकार से है-

आयुः सत्त्वबलारोग्य सुख प्रीति विवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः॥ (17/8)

अर्थात् आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहने वाले (जिस भोजन का सार शरीर में बहुत काल तक रहता है) तथा स्वभाव से ही प्रिय-ऐसे आहार (भोजन) सात्विक पुरुष (स्त्री) को प्रिय होते हैं। शरीर के भोजन के पश्चात् मन-बुद्धि के भोजन की बात आती है। यह शरीर के भोजन से भी महत्त्वपूर्ण है। मन-बुद्धि का सात्विक भोजन है सदैव स्वस्थ चिंतन। यदि मन में दूसरों की भलाई की

बात का चिंतन होता है, तब अपना भला तो होता ही है और इसके साथ ही हम 'हरिजन' बनने की ओर अग्रसर होते हैं। श्रीरामचरितमानस में जटायु के प्रसंग में लिखा है-

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥ (3/31/9)

चिंतन शृंखला में यह बहुत महत्त्वपूर्ण है कि हम किसी भी प्राणी, पदार्थ अथवा परिस्थिति से आशा न रखें। यही बात कल्याण के आदि सम्पादक भाईजी हनुमान प्रसाद पोद्दारजी ने अपनी लघु पुस्तिका 'जीवन में उतारने की सोलह बातों' में कही है।

प्राणि पदार्थ परिस्थिति से तुम रखो कभी न कुछ भी आस।
आशा करो आत्म सुख की जो हर हालत में रहता पास॥

एक सुप्रसिद्ध भजन 'जाहि बिधि राखे राम ताहि बिधि रहिए' में भी यही भाव है कि 'आशा एक रामजी से दूजी आशा छोड़ दे'। जब तक हमारे मन में सांसारिक पदार्थों के लिए लालसा बनी रहेगी, प्राप्त पदार्थों से संतोष नहीं होगा, तब तक कामनाएँ बनी रहेंगी और जब तक कामनाओं का सिलसिला चलता रहेगा, हम सुखी नहीं हो सकते। श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥
राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥ (7/90/1-2)

इस प्रकार से सुख प्राप्ति के लिए सर्वोपरि साधन है भगवत् भजन अर्थात् भगवान के 'नाम' का स्मरण, भजन, गायन, जप आदि जिसमें मन रमे। श्रीरामचरितमानस तो श्रीराम गुणगान ही है, क्योंकि इसके प्रारंभ में ही गोस्वामी तुलसीदास ने लिख दिया है-

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा॥ (1/10/1)

इस प्रकार से श्रीरामचरितमानस के पाठ, मनन-चिंतन इसमें वर्णित आचरण को अपने जीवन में उतारने से हम 'हरिजन' अर्थात् भगवान के भक्त बन सकते हैं और तब यह भाव प्रकट होगा-

बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥ (4/16/9)

हनुमान चालीसा के सिद्ध मंत्र

अखिल ब्रह्माण्डनायक मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीरामजी की पतित पावनी जन्म भूमि अयोध्यापुरी में एक संत रहते थे, जिन्हें श्रीहनुमान चालीसा सिद्ध था। वे कहा करते थे कि जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी द्वारा रचित श्रीरामचरितमानस का प्रत्येक शब्द मंत्रवत् है, उसी प्रकार श्रीहनुमान चालीसा का प्रत्येक शब्द मंत्र है। जब कोई उनके पास किसी समस्या को लेकर उसके समाधान हेतु जाता था, तब वे उसे उसकी समस्या के अनुरूप श्रीहनुमान चालीसा की कोई न कोई चौपाई बताकर कहते थे कि इस मंत्र का जप करो, सब ठीक हो जाएगा। वे यह भी कहा करते थे कि श्रीहनुमान चालीसा के सौ पाठ करके एक बार उसे सिद्ध कर लो, फिर जप करो अथवा उस चौपाई का श्रीहनुमान चालीसा का पाठ करके संपुट लगाकर बार-बार श्रीहनुमान चालीसा का पाठ करो, तो सोने में सुहागे की तरह मंत्र कारगर होगा। उल्लेखनीय है कि यह सब श्रद्धा-विश्वास का खेल है। श्रीरामचरितमानस के अनुसार बिना विश्वास के कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है, यथा-**'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।'** (7/90/8)। श्रीहनुमान चालीसा के सिद्ध मंत्र भी श्रीरामचरितमानस के सिद्ध मंत्रों की तरह ही हैं। उनका भी उल्लेख इस आलेख में किया गया है। उन सिद्ध संत द्वारा बताए गए, जैसा कि मैंने किन्हीं सज्जन से सुना है, श्रीहनुमान चालीसा के कुछ सिद्ध मंत्र यहाँ प्रस्तुत हैं:-

(1) सद्बुद्धि प्राप्त करने हेतु

महाबीर बिक्रम बजरंगी। कुमति निवार सुमति के संगी।।

श्रीहनुमानजी 'कुमति' का निवारण कर 'सुमति' (सद्बुद्धि) प्रदान करते हैं। गायत्री मंत्र में भी यही भाव है कि परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें अर्थात् हमें 'सुमति' प्रदान करें।

सुमति-कुमति के संदर्भ में श्रीरामचरितमानस के सुन्दरकाण्ड में विभीषण-रावण संवाद में इस प्रकार से वर्णन आया है, **'सुमति कुमति सबकें उर रहहीं।**

नाथ पुरान निगम अस कहहीं॥ जहाँ सुमति तहँ संपति नाना। जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना॥ (5/40/5-6)।' श्रीहनुमान चालीसा के उपर्युक्त मंत्र के प्रभाव से हमारी कुमति समाप्त होकर सुमति जाग्रत हो जाती है और हमें परम सुख प्रदान करती है।

(2) विद्या प्राप्त करने (परीक्षा में सफल होने) हेतु

बिद्यावान गुनी अति चातुर। राम काज करिबे को आतुर॥

अर्थात् श्रीहनुमानजी विद्यावान हैं, अतः हमें विद्या प्रदान करें, ऐसा भाव इस मंत्र का है। यही भाव श्रीरामचरितमानस के सिद्ध मंत्र **'जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥** (1/105/6) में है।

(3) मृत्यु के मुख से बचने हेतु

लाय सजीवन लखन जियाये। श्रीरघुबीर हरषि उर लाये॥

उल्लेखनीय है कि हमारे जीवन की एक निश्चित आयु है, वह पूर्ण होने पर तो यह देह त्यागनी ही पड़ेगी, पर कभी-कभी अकाल मृत्यु अथवा बिना अवसर के मृत्यु का योग बन जाता है। ऐसे समय में यह मंत्र ठीक उसी तरह से प्रभावी होता है जैसे महामृत्युंजय मंत्र, जिसमें हम शिवजी से मृत्यु के भय को दूर करने की प्रार्थना करते हैं। ऐसी ही भावना श्रीरामचरितमानस के सिद्ध मंत्र, **'नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥** (5/30)' में है।

(4) यश प्राप्ति हेतु

तुम्हरो मंत्र बिभीषन माना। लंकेस्वर भए सब जग जाना॥

इस मंत्र का जप करते समय यह भाव मन में लाना चाहिए कि जिस प्रकार विभीषणजी ने श्रीहनुमानजी का मंत्र (अर्थात् श्रीरामजी की शरण में जाने की प्रेरणा) मानकर लंका का राज्य प्राप्त किया था, इसी प्रकार से हमें भी यश-कीर्ति प्राप्त होगी।

इस परिप्रेक्ष्य में श्रीरामचरितमानस का सिद्ध मंत्र निम्नांकित है-

समर बिजय रघुबीर के चरित जे सुनहिं सुजान।
बिजय बिबेक बिभूति नित तिन्हहिं देहिं भगवान॥ (6/121क)

(5) दुष्कर कार्य की सिद्धि हेतु

दुर्गम काज जगत के जेते। सुगम अनुग्रह तुम्हरे तेते॥

इस मंत्र के प्रभाव से असंभव कार्य भी संभव हो जाते हैं। श्रीहनुमानजी रुद्रावतार हैं और श्रीरामचरितमानस के अनुसार शिवजी भावी (होनहार) को मेट सकते हैं, **'भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥'** (1/70/5)

(6) सर्वसुख एवं निर्भयता प्राप्ति हेतु

सब सुख लहै तुम्हारी सरना। तुम रच्छक काहू को डर ना॥

सभी प्राणी सुख चाहते हैं और सुख न चला जाए, इस बात से डरते भी हैं। इस मंत्र से सभी प्रकार का सात्विक सुख प्राप्त होता है और फिर प्राणी निर्भय भी हो जाता है। श्रीरामचरितमानस के सिद्ध मंत्र **'सीम कि चाँपि सकइ कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥** (1/126/8)' में यही भाव है अर्थात् जब श्रीरामजी रक्षा करने वाले हैं तब कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता है और इससे निर्भयता का आभास होता है।

(7) भूत-प्रेत बाधा निवारणार्थ

भूत पिसाच निकट नहिं आवै। महाबीर जब नाम सुनावै॥

गले में माला (कंठी) की नाप का कलावा या काला रेशम का धागा लेकर उसके मध्य में सात गाठें डालकर इस मंत्र से अभिमंत्रित कर लें। इस हेतु इस मंत्र को 108 बार पढ़कर धागे पर (प्रत्येक मंत्र के साथ एक फूंक) फूँक लगाते जाएँ और फिर इसे गंगाजल में धोकर तथा धूप-दीप दिखाकर जिसे प्रेत बाधा है उसे पहना दें। अभिमंत्रण शनिवार या मंगलवार को ब्रह्म मुहूर्त या सूर्योदय के समय करना चाहिए। मैंने स्वयं कई बार इसका प्रयोग किया है और आशातीत लाभ प्राप्त हुआ है। श्रीरामचरितमानस के सिद्ध मंत्र **'प्रनवउँ पवनकुमार खल बन पावक ग्यान घन। जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर॥'** (1/17) में भी यही भाव है।

(8) रोग दूर करने हेतु

नासै रोग हरै सब पीरा। जपत निरंतर हनुमत बीरा॥

इस हेतु श्रीरामचरितमानस का सिद्ध मंत्र **'दैहिक दैविक भौतिक तापा।**

राम राज नहिं काहुहि ब्यापा॥' (7/21/1) है। इन मंत्रों के जप-स्मरण से सभी रोग दूर हो जाते हैं।

(9) मनोकामना सिद्ध हेतु

और मनोरथ जो कोइ लावै। सोइ अमित जीवन फल पावै।

श्रीरामचरितमानस का इसके समकक्ष मंत्र है, **'सो तुम्ह जानहु अंतरजामी। पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी॥'** (1/149/7)। इनसे मनोकामना सिद्ध होती है।

(10) भगवद्भक्ति प्राप्त हेतु

राम रसायन तुम्हरे पासा। सदा रहो रघुपति के दासा॥

इस संदर्भ में श्रीरामचरितमानस का सिद्ध मंत्र, **'नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी॥'** (5/34/1) है। भगवद्भक्ति प्राप्ति हेतु ये अमोघ मंत्र है।

(11) संकट मोचन हेतु

संकट कटै मिटै सब पीरा। जो सुमिरै हनुमत बलबीरा॥

यही भाव श्रीरामचरितमानस के सिद्ध मंत्र, **'दीन दयाल बिरिदु संभारी। हरहु नाथ मम संकट भारी॥'** (5/27/4)' में है।

इस परिप्रेक्ष्य में विचारणीय है कि श्रीरामचरितमानस और श्रीहनुमान चालीसा के सिद्ध मंत्रों में क्या अंतर है। वास्तव में दोनों ही समान रूप से हितकारी हैं। दोनों में से कौन अधिक श्रेष्ठ है, यह कहना कठिन है। श्रीरामचरितमानस के प्रारंभ में 'नाम वंदना' के संदर्भ में गोस्वामीजी लिखते हैं, **'कहउँ नामु बड़ राम तें'** (1/23)। इससे प्रेरणा लेकर कह सकते हैं कि श्रीहनुमान चालीसा के सिद्ध मंत्र अधिक प्रभावशाली हैं। इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि श्रीरामजी ने श्रीहनुमान को भरत के समान कहा है, **'तुम मम प्रिय भरतहिं सम भाई॥'** (श्रीहनुमान चालीसा) और भरतजी की महिमा का वर्णन करते हुए श्रीरामचरितमानस में लिखा है, **'भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥'** (2/218/7)। उत्तरकाण्ड में गोस्वामी तुलसीदासजी इसकी पुष्टि करते हुए लिखते हैं, **'मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥'** (7/120/16)।

इस संदर्भ में मैं अपना अनुभव लिख रहा हूँ। जब-जब मेरे जीवन में कोई संकट आया तब-तब मैंने श्रीरामचरितमानस के सिद्ध मंत्रों का सहारा लिया और आशातीत लाभ प्राप्त किया। वैसे तो श्रीरामचरितमानस का प्रत्येक शब्द मंत्रवत् है, तथापि श्रीरामचरितमानस की वार्षिक स्मारिका में 'मानस' के कुछ सिद्ध मंत्र प्रकाशित किए गए हैं। कई पाठकों से सूचना मिली है कि उन्होंने इनसे लाभ प्राप्त किया है। जब से मुझे श्रीहनुमान चालीसा के सिद्ध मंत्रों की जानकारी मिली है, तब से इन्हीं का सहारा लिया है। उपर्युक्त वर्णित क्रम संख्या 2, 6, 7, 8 एवं 11 पर लिखित मंत्रों का मैंने कई बार जप करके आशातीत लाभ प्राप्त किया है।

श्रीराम जय राम जय जय राम

- ❖ यह मंत्र जप एवं संकीर्तन दोनों प्रकार से साध्य है।
- ❖ इसमें तीन बार राम, एक बार श्री के साथ श्रीराम और तीन बार जय शब्द आया है। इससे षड्विकार-''काम-क्रोध-लोभ-मोह-मान-मत्सर'' दूर होते हैं।
- ❖ यह दैहिक दैविक-भौतिक त्रिताप दूर करता है।
- ❖ इस मंत्र की एक और विशेषता है, इसमें 13 वर्ण हैं। संभवत: किसी अन्य मंत्र में 13 वर्ण नहीं हैं। अंक ज्योतिष के अनुसार 13 का तात्पर्य है, 1+3 =4, यह 4 का अंक इसका द्योतक है कि इस मंत्र के प्रभाव से मानव को चारों पुरुषार्थ अर्थात् धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष प्राप्त हो जाते हैं।
- ❖ यह महामंत्र (विजय मंत्र) तीन गुणों-'सत्-रज-तम' के आधार पर कल्याणकारी है।
  - सत् रूप में इससे इंद्रियों पर विजय प्राप्त होती है और इससे भगवत् भजन में मन रमता है।
  - रजोगुण के आधार पर यह महामंत्र (विजय मंत्र) दरिद्रता, अनिष्ट एवं समस्त बाधाओं पर विजय प्राप्त कराके सुख-समृद्धि प्रदान कराता है।
  - तमोगुण के रूप में यह मानव की समस्त तापसी वृत्तियों पर विजय प्राप्त कराके उसे निर्मल मन बनाता है, जिससे भगवत् भक्ति प्राप्त होती है।
  - इस मंत्र का एक और यह सुग्राह्य-सरलतम अर्थ है:-

श्रीराम-हे राम,
जय राम-आपकी जय हो,
जय जय राम-मैं आपकी शरण में हूँ

इस मंत्र का जप या संकीर्तन करते समय उपर्युक्त भाव रखने से **'कि प्रभु मैं आपकी शरण में हूँ'** मानव निश्चिंत होकर सहज ही सब कुछ पा सकता है।

कलियुग में भगवन्नाम के अलावा और कोई साधन, परमार्थ पथ के साधकों के लिए उपलब्ध नहीं है, श्रीरामचरितमानस के अनुसार-

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू।। (1/27/7)

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥
कल्याण
शताब्दी-वर्ष २०२६
वर्ष १००
शताब्दी-अङ्क
संख्या १
गीताप्रेस, गोरखपुर

लेखक परिचय

जन्म – ग्राम – बलचौर, जिला – महोबा (उत्तर प्रदेश), नवम्बर, 1946।

शिक्षा – हिन्दी माध्यम से उच्चतर माध्यमिक परीक्षा (1964), सिविल इंजीनियरी में डिप्लोमा (मध्य प्रदेश में चतुर्थ स्थान) (1967), सिविल इंजीनियरी में स्नातक डिग्री (1971), कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय (अमेरिका) से 'जल विज्ञान' में स्नातकोत्तर प्रमाणपत्र (1983) तथा गोरखपुर स्कूल ऑफ नेचुरल थेराप्यूटिक्स, आरोग्य मन्दिर, गोरखपुर से प्राकृतिक चिकित्सा एवं योग में डिग्री (1995)।

अनुभव :

(क) **तकनीकी क्षेत्र** : सन् 1967 से 1974 तक मध्य प्रदेश विद्युत मंडल में सुपरवाइजर/सहायक इंजीनियर के पद पर कार्य किया। जून 1974 में 'केन्द्रीय जल इंजीनियरी सेवा' से केन्द्रीय जल आयोग में सेवा प्रारम्भ की और नवंबर 2006 में मुख्य इंजीनियर के पद तथा अपर सचिव, भारत सरकार (Additional Secretary to the Govt. of India) ग्रेड से सेवा निवृत्त।

(ख) **राजभाषा हिन्दी तथा अन्य क्षेत्र** (1) उपसचिव, भारत सरकार, राजभाषा विभाग (गृह मंत्रालय) के पद पर कार्य किया (1989–93)।

(2) केन्द्रीय सचिवालय हिन्दी परिषद के महामंत्री एवं उपप्रधान के रूप में कार्य किए।

(3) भारत सरकार के विभिन्न मंत्रालयों की हिन्दी सलाहकार समिति के सदस्य रहे/हैं।

(4) विभिन्न धार्मिक/सामाजिक संस्थाओं की कार्यकारिणी के सदस्य रहे/हैं।

लेखन–संपादन कार्य :

भागीरथ, विज्ञान गंगा तथा अन्य पत्रिकाओं के संपादक रहे/हैं। समाचार पत्रों/पत्रिकाओं/राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में 29 लेख (11 हिन्दी में) प्रकाशित। स्वरचित कविताओं का संग्रह भक्ति पुष्प (1991), सप्त सुमन (2010) एवं पुस्तक 'भगवत्कृपानुभूति' 2021 में प्रकाशित।

सम्मान प्राप्ति :

केन्द्रीय जल आयोग के आगरा मंडल में वर्ष 1983–84 में सम्पूर्ण कार्य राजभाषा नीति के अनुसार शत्–प्रतिशत हिन्दी में संपादित कराने के लिए अखिल भारतीय राजभाषा सम्मेलन में सितंबर, 1985 में माननीय प्रधानमंत्रीजी से **राजभाषा शील्ड तथा प्रशस्ति पत्र** प्राप्त किया। सितम्बर, 2000 में इस हेतु **अन्तरराष्ट्रीय संस्था द्वारा विश्व हिन्दी सम्मेलन में सम्मानित किया गया।**

सितंबर 2005 में 'इंटरनेशनल कमीशन ऑन इरीगेशन एण्ड ड्रेनेज' द्वारा बीजिंग, चीन में आयोजित सम्मेलन में 'हिस्ट्री ऑफ इरीगेशन' वर्किंग ग्रुप के सदस्य के रूप में उत्कृष्ट योगदान हेतु सम्मानित।